SYRACUSE
UNIVERSITY
LIBRARY

Upadhyaya, Tarakeswar, 1912–

पथपर. [लेखक] तारकेश्वर उपाध्याय. [2. संस्करण] वाराणसी, नारायण प्रकाशन मन्दिर [1967]

168 p. 19 cm. Rs 3.50

In Hindi.

1. Title.

PK2098.U78P3

Library of Congress [3½]

D005

Title romanized: Pathapara.

S A 67-5717

PL 480: I-H-4560

I-H-4560

upādhyāya

पथ पर

आचार्य तारकेश्वर उपाध्याय

नारायण प्रकाशन मन्दिर
वा रा ण सी – १

प्रकाशक
नारायण प्रकाशन मन्दिर
कमच्छा, वाराणसी-१

द्वितीय संस्करण : १९६७ ई०
मूल्य : ३.५०

मुद्रक
काशीनाथ गुप्त
श्री सीताराम प्रेस
जालिपादेवी रोड, वाराणसी-१

सहचरि रमे !

ले लो

और प्रेमा जिसकी छाया है

दे दो

उतराँव निवासिनी उस माई रामदुलारीको जिसने

जन्म नहीं जीवन दिया है ।

तारकेश्वर

प्रकाशकीय

अखिल भारतीय विक्रम परिषद, वाराणसी से प्रकाशित "पथपर" महाकाव्य की एक प्रति मुझे भी देखने को मिली और मेरे मन में ऐसा विचार आया कि "नारायण प्रकाशन मन्दिर" से यह काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित होना चाहिये ताकि इसके माध्यम से इसके विचार जन-समुदाय तक पहुँचने में सहायक हो। मैं जानता था कि १९५४ में जब इसका पहला संस्करण निकला तो उत्तर प्रदेशीय सरकार ने इसकी सारी की सारी प्रतियां अपने पुस्तकालयों के लिये ले ली थी, और साधारण पाठकों के हाथों में यह नहीं पहुँच सकी थी। किन्तु इस काव्य की चर्चा जब "हिन्दी साहित्य सर्वस्व" में महाकाव्यों के संदर्भ में हुई और साहित्य के महारथी आलोचकों की दृष्टि में इसकी एक विशेष शैली विद्वत् समाज के सम्मुख प्रमुख हो उठी तो मेरी लालसा इसके प्रकाशन की ओर और जागरूक हो उठी और मैं इसके कवि से संपर्क बढ़ाने की ओर उन्मुख हो उठा। आचार्यजी ग्रामीण अंचल में रहने वाले एक दूरस्थ प्राणी से लगे और मुझे ऐसा लगा कि इसके पुनर्प्रकाशन में उनकी एक विशेष अभिरुचि है जो मेरे माध्यम से पूरी हो सकती है। उनकी सहमति प्राप्त हो गई और इसका द्वितीय संस्करण पाठकों के समक्ष रखने में समर्थ हो सका हूँ। आशा है विद्वत्जन हमारी इस छोटी-सी सेवा को स्वीकार करेंगे।

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के प्रकाशन के पश्चात् जो सम्मतियां प्राप्त हो सकीं उन्हें कवर पेज के फ्लैप पर दे दिया गया है।

आनन्द मूर्ति श्रीवास्तव

Digitized by the Internet Archive
in 2026

https://archive.org/details/upadhyayatarakes0000vari

आशंसा

अखिल भारतीय विक्रम-परिषद्, काशी, अपने श्रेष्ठतम प्रकाशनोंके लिये भारतवर्ष-भरमें विख्यात है। अभीतक वहाँसे कुछ शास्त्रीय ग्रन्थ और कुछ नाटक प्रकाशित हुए थे किन्तु कुछ दिनों पूर्व जब सहसा श्री तारकेश्वर उपाध्याय-द्वारा रचित 'पयपर' नामक काव्य देखनेको मिला तब उसे भी परिषद्की ग्रन्थमालामें प्रकाशित करनेकी प्रेरणा मिली। उस काव्यमें इतने प्रकारकी नवीनताएँ थीं कि उसे हिन्दी-संसारके सम्मुख उपस्थित करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य प्रतीत होने लगा।

भारतके बाहर अमरीका और योरोपीय देशोंमें काव्यके इतने अधिक रूप अंकुरित और पल्लवित हुए हैं तथा जनताने भी इनका स्वागत किया है कि वहाँके वर्तमान समीक्षक अपने ग्रन्थोंमें उनकी विवेचना और समीक्षा करना गौरवकी बात समझते हैं। हमारे यहाँ भी काव्यके क्षेत्रमें जो नए प्रयोग किए गए वे या तो प्राचीन भारतीय काव्य-परम्परामें बँधे हुए थे अथवा उन्होंने शुद्ध रूपसे किसी विदेशी प्रवृत्तिका अन्धानुकरण किया था। पहली प्रवृत्ति भारतीय होनेके कारण और उदात्त काव्य-परम्परामें बँधी होनेके कारण ग्राह्य हुई किन्तु दूसरी प्रवृत्ति सांस्कृतिक और सांस्कारिक दृष्टिसे भारतीय काव्य-परम्पराके साथ किसी भी प्रकारका सामंजस्य स्थापित

नहीं कर सकी और इसीलिये छायावाद, प्रयोगवाद तथा प्रगतिवाद आदि जो विदेशी भावधाराएँ भारतीय काव्यमें प्रवृत्त हुईं वे शीघ्र ही सूख गईं और पनपनेके लिये उचित क्षेत्र और प्रोत्साहन नहीं पा सकीं।

किन्तु 'पथपर' काव्य प्राचीन भारतीय काव्य-परम्परामें बँधा न होने पर भी करुण रसकी पुष्टिके लिये अत्यन्त दृढ़ तथा पुष्ट आलम्बन बनकर आया। इसका इतिवृत्त साधारण जन-समाजके जीवनसे लिया गया है। इसके पात्र सामान्य स्तरके हैं और इसका छन्द भी इस नवीनताके साथ चला है कि वह तुकान्त होनेपर भी भावान्त नहीं है अर्थात् जिस प्रकार तुकान्त छन्दोंमें उसके चार चरणोंमें एक भाव पूर्ण हो जाता है अथवा उसका प्रवाह समाप्त हो जाता है वैसा न होकर इस काव्यमें भावकी गति छन्दके आवश्यक चरणोंपर रुक देती हुई आगेतक चलती रहती है, जैसे अंगरेज़ीके अतुकान्त काव्यों (ब्लेंक वर्स) में हुआ करती है। किन्तु इसे अतुकान्त इसलिये नहीं कहा जा सकता कि इसमें तुकका निर्वाह तो किया गया है किन्तु तुककी समाप्तिके साथ भावकी समाप्ति नहीं होती। यह कवि-कर्म साधारण नहीं है। क्योंकि तुकका बन्धन मानते हुए काव्य-वाक्यका आगेतक निर्वाह करना अत्यन्त दुरूह होता है। इसलिये भी इस काव्यके प्रति विशेष आकर्षण हुआ।

स्वयं कविने इसकी प्रस्तावनामें कहा है कि इस काव्यका आधार सत्य वृत्त है और इसकी रचनाका स्रोत स्वयं कविका अनुभव-प्रभावित हृदय है जिसने संवेदनशील होकर एक व्यथितके प्रति ऐसी करुणा प्रदर्शित की कि वह करुणाजनक स्थिति आगे चलकर काव्यको प्रेरणा-शक्ति बन गई। कविने आत्मदर्शनको ही कविता माना है। यह आत्मदर्शन काव्यके प्रत्येक सर्गमें स्थान-स्थानपर व्यक्त होता चला है। कवि स्वतः ग्रामका निवासी है।

उसे ग्राममें होनेवाली समस्त क्रियाओं और प्रतिक्रियाओंका प्रत्यक्ष अनुभव है। अतः उनका विस्तृत और सूक्ष्म चित्रण करनेमें कविको स्वाभाविक सफलता प्राप्त हुई है। इस अनुभूतिके साथ-साथ कविने ग्रामजीवनकी विषम कठिनाइयों और समस्याओंका अपने नए ढङ्गसे तथा जनतान्त्रिक रीतिसे समाधान किया है, जो सम्भव भी है और अनुकरणीय भी।

ग्रामजीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले इस काव्यकी यह भी विशेषता है कि इसमें अति प्रचलित ग्रामीण शब्दोंका भी प्रयोग किया गया है और ग्राम-जीवनके अनुभवोंका भी विशद वर्णन किया गया है। मुझे विश्वास है कि इस काव्यका व्यापक रूपसे आदर होगा और ग्राम-समाजको सुधारनेमें इस काव्यका व्यापक प्रयोग किया जायगा। मैं इसके लेखकको इस सुन्दर कृति के लिये हार्दिक बधाई और साधुवाद देता हूँ।

टाउन डिग्री कॉलेज,
बलिया।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी,

पुस्तकमें आये भोजपुरी शब्दोंकी व्याख्या

पृष्ठ	पंक्ति	शब्द	व्याख्या
५५	२३	कइन	बाँसकी टहनी
५५	२३	हरेठ	अरहरका अन्न-रहित सूखा डण्ठल
७२	७	परिहथ	हलकी मुठिया
,,	७	सफार	फार (फाल) के साथ
,,	६	जोवि	काली मिट्टीमें पाई जानेवाली, कृषिके लिये हानिकर एक प्रकारकी घास
,,	११	हेंगा	जोती हुई भूमिको समतल करनेवाला कृषियन्त्र (पटेला)
,,	१२	झूर	झुरमुट
७३	६	उकावँ	भूसा-सहित अन्नराशि
७३	१४	राशि	भूसा-रहित अन्नराशि
७४	५	हिंगुआ	गर्मीमें लहलहानेवाला एक कटीला पौधा (जवासा)
७४	१०	परेव	सिंचाईके लिये प्राप्त सहायता, जिसमें बैलोंकी जोड़ी सम्मिलित है
७४	२४	सरेह	लहलहाते खेतोंका दृश्य
७७	१४	घनहरि	भड़भूँजेके यहाँ अन्न भुनानेको पहुँची हुई स्त्री ।

विषयके पहले

कुछ ऐसी बातें कहनी हैं जो विशेष महत्त्वकी न होते हुए भी आवश्यक है। पढ़नेवालेको कुछ पढ़नेके पहले यदि इसकी जानकारी हो जाय कि वह कैसे लिखी गई, कहाँ और क्यों लिखी गई तो उसे उसतक पहुँचनेमें अधिक सहूलियत होती है। यों तो कला स्वयं अपना पथदर्शक है, किन्तु यदि उसकी लीकपर खड़िया घुमा दी जाय तो जानेवालेके लिये रास्ता कुछ स्वच्छ ही होगा। यदि राही अपना मार्ग आप ढूँढ़ना चाहता है तो ठीक ही है और अगर वह अपनी खोजमें सफल हो जाय तो उसकी तारीफ है ही, मगर कटरेपर रास्तोंका नाम लिखनेवालेका प्रयास भी निष्फल और बेतुका नहीं कहा जा सकता। मैं यह सब लिखकर शायद कुछ ऐसा ही करता हूँ।

मैंने इसे क्यों लिखा इसका उत्तर मैं आप ही नहीं दे सकूँगा। मैं क्यों लिखता हूँ वह भी कुछ नहीं कह सकता। कुछ ऐसी बात अवश्य कही जा सकती है जिससे 'क्यों' के जाननेमें सहायता मिल जाय। सम्भव है इसलिये लिखता हूँ कि मेरा कोई नशा (धुन) उतर जाय और वह नशा भी ऐसा ही है जो लिखनेसे ही उतर सकता है। धुन मिट सकती है। एक बार फुलवारीमें मैंने एक फूल देखा जो डालीसे गिरकर काँटोंमें उलझ गया था। मैंने और भी कितनी ही वस्तुएँ अच्छी-सी, बड़ी-सी हजारोंमें देखीं—भाँति-भाँतिके फल देखे, फूल देखे—यहाँसे वहाँ उड़ती हुई रंग-बिरंगी तितलियाँ देखीं—पगडण्डीपर जाते हुए नये-पुराने सुन्दर और आकर्षक लोग देखे—गाँवकी गलियोंमें आपसमें खेलते-उलझते हुए लड़कोंके झुण्ड देखे—घरोंमें आती-जाती और एक-दूसरीसे झगड़ती हुई लड़कियोंके समूह देखे—रातमें

दीपकके प्रकाशमें उड़ते-गिरते और मरते-जीते हुए बहुतेरे पतंगे देखे—कालिदासकी ऊँची कल्पनाओंके साथ-साथ इस 'मरण जीवन हो आया' से अपनेमें नई भावनाओंका उद्गार देखा—और देखा—स्वप्नोंके संसारमें कितने ही संयोग और वियोगके चित्र, कितने ही स्वर्ग और पातालके अलौकिक अभिनय, जिनमेंसे प्रत्येक ही स्मृतिमें स्थायी रहनेके योग्य था, किन्तु दूसरे दिन फिर भी वही काँटोंसे उलझा हुआ फूल सामने था। उसी लाल नये गिरेकी—सुन्दर फूलको—कोमल पंखड़ियोंके तीखेसे कण्टकोंमें उलझनेकी कहानी ज़बानपर थी। एक अजीब बेचैनी थी। रमाकी बातें करता था, उसी फूलकी कहानी कही जाती थी। चौककी घटना कही जाती थी—उसी सुमनके संकटकी बात याद आती थी। गोया मैं नशेमें चूर था, धुनमें मस्त था। अनजानेमें कह गया—

सपनोंमें उलझ न पाया, उलझनमें था सपना-सा।
जो फूल उलझते देखा, समझा उसको अपना-सा।

और कहता रहा यही बार-बार, फिर तुरन्त कलमसे कागजपर उसे लिख मारा और लिखनेके बाद उसे बार-बार पढ़ा। अब वह काँटोंसे उलझा फूल इन शब्दोंमें आ गया। मैं उसे भूल गया और थोड़ी देरके बाद भूल गया इसे पढ़ना भी, जैसे मुझे अब इसमें कुछ पढ़ना नहीं रहा। मेरे लिये इसमें कुछ नया नहीं रहा। अलबत अब नशा उतर गया था।

यह विषय भी कुछ ऐसे ही नशेका उतार है। उन दिनों मैं लक्ष्मीदेवी हाई स्कूल, बलियामें आठवीं कक्षाका विद्यार्थी था। सन् बत्तीसका समय था। स्वतंत्रताकी आग जोरोंसे धधक रही थी। प्रत्येक व्यक्ति मनुष्यताकी दुहाई देता था और जगह-जगह विदेशी कपड़ोंकी होली जलाई जा रही थी। स्थान-स्थानपर गिरे हुए लोगोंको कथाएँ सुनाई जाती थीं। सत्य-नारायणकी कथा परिवारकी न होकर घरोंसे बाहर चौराहोंपर समाजकी बन रही थी। प्रत्येकमें भारतीयता, मनुष्यता और समानता लानेका यह विराट् प्रयत्न था। स्वतंत्रताके मार्गपर नये विचारोंके हरे-हरे ये वृक्ष सच-

सुच बहुत सुन्दर थे, किन्तु वहीपर एक ओर मानवताका अन्त भी हो रहा था। दो तीन प्राणियोंके शरीरपर फटे चिथड़े थे और दो-तीन सौ जनोंके अमूल्य वस्त्रोंकी होली जल रही थी। एक ओर सम्वेदनाका प्रादुर्भाव था और दूसरी ओर सिद्धान्तकी समीक्षा। एक ओर सीमाका विनाश था और दूसरी ओर असीम पुष्टि। ये मेरे तत्कालीन विचार थे जब कि मैं तीन जनोंकी वेदनापर दुःखित हो चला था। यह मेरा वह दिन था जब मैं लक्ष्यकी मीमांसा नहीं कर सकता था, किन्तु साधनोंकी समालोचना करना जानता था क्योंकि लक्ष्य मेरी समझसे दूर था और साधना थी मेरी आँखोंके सामने। तीन जनोंकी दुर्दशा देखकर मैं उन दिनों विदेशी कपड़े जलानेका तर्क उचित नहीं समझ सका था। मैं तो चाहता था उन्हीं कपड़ोसे उनके नग्न शरीरपर परदा डाल देना।

ये तीन जन थे कौन, मैं अब तक नहीं समझ सका हूँ। एक वृद्ध था और दो उसकी सन्तानें—एक लड़की और एक लड़का। तीनों प्राणी भिक्षु थे। शहरकी गलियोंमें भिक्षाकी याचना थी या क्या था, बता नहीं सकता। मैंने उन्हें केवल चौकके कुएँपर बैठा पाया था। खाने और कपड़ेकी कमी थी। उनकी माँग उन दिनों किसीने सुनी नहीं थी। मैं स्कूलसे अपने कमरेमें जा रहा था अकेले उसी मार्गसे। उनकी दशापर मुझे तरस आया विशेषकर उन बालकोंकी। वे कुछ अपनी कक्षाके थे क्योंकि मैं भी तो उस समय बालक ही कहा जाता था। फिर कह नहीं सकता कि वह सहानुभूति मेरी कैसी थी किन्तु इतना अवश्य है कि ऐसे अवसरोंपर मैं बालकपनसे ही अपने सुखकी स्पृहा नहीं रखता था। उन सबोंके साथ मैं अपने निवासस्थल पर आया। उन्हें मैंने अपनी छः धोतियोंमेंसे चार दे डालीं, तीन कमीजोंमेंसे दो अलग कर दीं। मेरे पास भोजनकी कोई वस्तु नहीं थी क्योंकि मैं स्वयं भोजनालयमें खाता था इसलिये उन्हें कुछ खानेको नहीं दे सका। मेरे पास पैसे भी नहीं थे जिनसे उन्हें खाना खिला सकता। सहवासी बालक रामेश्वरदत्त भी नहीं था। बड़े प्रयत्नके बाद एक सज्जनसे एक रुपया

उधार पा सका था और वही उन्हें देकर सन्तुष्ट हो सका था। फिर भी उनके चले जानेपर सहानुभूतिकी मादकता बनी रही और ये विचार सदैव तेज़ीसे बढ़ते गए कि उनकी यात्राका अन्त कैसे होगा; उनके जीवनमें कौन सी वेदना रह जायगी। उनकी छायाका अस्तित्व मेरे अन्तरपर इतना जमा कि उनका विस्मरण मेरे लिये असम्भव-सा हो गया। उन तीनोंके जीवनमें मैंने एक ऐसा उन्मादी पदार्थ पाया जिसकी मादकता अपनेमें निखर-सी गई और एक ऐसी दुनिया मिली जिसकी सार्थकता और निरर्थकतामें एक अजीब संघर्ष-सा मच गया। मुझे एक ऐसी मानवता मिली जिससे सम्भव है पशुता बढ़ जाय और एक ऐसी खोज निकली जिसके प्रयोगसे अपनेसे अपनापन जाता रहा।

समझ नहीं पाया कि यह उथल-पुथल क्यों थी, कब तक के लिये थी। इस क्रान्ति में कौन-सी योजना है, किसका निर्माण होना है, यह भी नहीं जान पाया था और यह भी नहीं सोच पाया था कि मैं भी किसी सृष्टि (?) का निर्माता हो पाऊँगा। अपना राग यह सब किस लिये और किस लिये अपनी ये सब हलचलें। बिना प्रयास ही एक दिन 'दुखी हृदयकी आह' निकली और अपनी क्रान्तिका अन्त-सा होता दिखाई पड़ा। उन्हीं दिनों मैं स्कूल-पत्रिकाका सहायक सम्पादक चुना गया और इस घटनासे सम्बन्ध रखती हुई वह एक 'दुखी हृदयकी आह' शीर्षक कविता उस पत्रिकामें प्रकाशित हुई। उसके सब पद 'पथपर' के प्रथम सर्गमें आ गए हैं।

उस समय कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि भावनाओंका अन्त-सा हो गया, जैसे कल्पनाका क्रम टूट गया हो। दिलका बोझ कुछ हल्का हो गया या कुछ गुरुता रही नहीं। किन्तु जब वह कविता एक बार फिर मेरी आँखोंसे गुज़री तो सारा दृश्य नया हो गया। ठंढे दूधमें जैसे उबाल आ गया और फिर क्रान्तिका बीज एक बार पनपता-सा प्रतीत हुआ। मैं यह स्वयं नहीं जान सका था कि दिलके किस कोनेमें अनुभूतिके विकृत कण टूटे पड़े थे।

किस तारसे करुण-संगीतका वह स्वर उलझा पड़ा था। वह फिर अन्तरालसे निकलने लगा और पेड़ोंकी पत्तियाँ तक बज उठीं। आँखोंके सामने एक तिनका आया और विश्वका विश्व जैसे अंधा हो गया। चेतनाकी इस माया में जैसे स्वर कहता था कुछ और मँजनेकी जरूरत है—कुछ और लिखनेकी आवश्यकता है। मैं 'दुखी हृदयकी आह' लिखकर अपनी मादकता नहीं उतार सका। यह वह नशा था जो रुक-रुककर आता है; इसकी गति ही ऐसी है जिसमें समताका नाम नहीं। उतर-चढ़कर चलना जिसकी खूबी है, वह गजबका नशा है।

और यह उन्माद कुछ दिनों तक बना रहा। मैं चाहता भी रहा और नहीं भी कि यह मीठा-सा उन्माद कुछ बना रहे। इसका बना रहना भी कोई मनकी बात नहीं थी। रग-रगमें जो सम्वेदनाएँ समाई थीं उन्हें निकलना था। पल-पल जो स्मृति आ थिरकती थी उसे विस्मरणमें जाना था। और इसलिये यह एक स्वाभाविक स्फूर्ति थी। इस प्रकार सन् चौंतीस तक इसका 'पथपर' रूप हो गया।

दिनोंके इस अन्तर्द्वन्द्वसे मुझे कुछ ऐसा जान पड़ता है कि कविता केवल आत्मदर्शन है। कभी-कभी ऐसा समय आता है जब मैं स्वयं अपने लिये एक पहेली हो जाता हूँ और कोशिशोंके बाद भी मैं अपना अर्थ नहीं लगा पाता। मैं अपने लिये एक ऐसा रहस्य हो जाता हूँ कि बिना उसे स्पष्ट किए मेरा चलना कठिन-सा हो जाता है; और यह कठिनाई तभी जाती है जब मैं अपना दिल आप ही हथेलियोंपर लेकर उसका निकटसे अवलोकन करता हूँ, उसका रूप खींचता हूँ, उसका रंग निर्णय करता हूँ। इस प्रकार आत्म-चिन्तन ही कविताका मूल कारण है। इस योगके बाद उसमें वास्तविकता भी आनी चाहिए। मैं जिसका आत्मचिन्तन करता हूँ उसे यदि आँखोंसे भी देख लूँ तो वही मेरी कविता है। कविताको रूप देनेके लिये मात्राओंकी आवश्यकता नहीं होती, सम्भव है आत्म-चिन्तनका सच्चा चित्र अक्षरोंमें सामने उतर जाय और वह बना रहे इसलिये हो भी। उसे एक व्यावहारिक

रूप देनेके लिये शब्दों और वर्णोंकी सहायता चाहिए। कविता तो अरूप ही विशेष सुन्दर होती है।

इस दृष्टिसे जगत्का प्रत्येक प्राणी कवि है, जहाँतक उसका आत्म-चिन्तनसे सम्बन्ध है। गाँवोंमें घूमता हुआ 'कल्पनाहीन' अपढ़ चरवाहा इसलिये कवि है कि वह अपने चरवाहेपनको सोचता है। नदीके किनारे घूमता हुआ मछलीका शिकारी इसलिये कवि है कि वह उससे अपना आत्म-सम्बन्ध लगा पाता है। पक्षीके सताए जानेके पहले भी वाल्मीकि कवि थे, क्योंकि वे मानव थे। मानवमें कविता सूक्ष्म बनकर रंग लाया करती है। किन्तु हम उसे कवि नहीं कह पाए। हो सकता है वह कविता समाजमें ऐसी ही हो जैसे तारोंके सम्मिलित स्वरमें किसी दूरस्थ तारकी मधुर प्रति-ध्वनि या लहरोंके मधुर संगीतमें जलकणकी एक ललित सिहरन। हम कवि उसे ही कह पाते हैं जिसकी कविता आत्मचिन्तनकी सीढ़ियोंसे ध्वनियोंके साथ सरस वर्णोंमें उतरी है। अर्थात् हम कविताके सगुणोपासक हैं।

इसीलिये मैंने समझ रक्खा है कि आत्मचिन्तनका मेरा यह नशा शब्दों और वर्णोंमें ठीक वैसे ही उतर जाय जैसा मैं उसका अनुभव करता हूँ तो मैं एक अच्छी कविता लिख गया। यदि दूसरा भी मेरे उस नशेको वैसे ही समझ जाय और स्वयं भी सनक जाय तो मैं समझता हूँ कि मेरी कविता सरूप होगई। इसी सरूप कविताको सभी अच्छी कविता कहते हैं।

यह सनक है क्या? मैं इसकी इतिहास-सम्बन्धी गवेषणा नहीं करता और न उसमें विकासकी विभिन्न प्रगतियोंका ही संकेत करना चाहता हूँ। मेरा मतलब केवल कविके मनोविज्ञानसे है। वह अपनी कलामें मानवताके विभिन्न स्वरूपोंकी झाँकी दिखलाता है जो उसकी सम्वेदनाओंको जाग्रत करनेवाली वस्तुओंके अन्तर्हित हो जानेके बाद भी उसी प्रकार अपना अस्तित्व कायम रखती है जैसे कोई गिरि-प्रदेशका सुन्दर सरोवर उषाकी चंचल किरणोंको दोपहरमें भी दिखलानेकी क्षमता रखता है। इस झाँकीसे

प्रत्येक व्यक्ति अपना रूप समझनेमें मदद पाता है। अतः कविता अन्तर्जगत्की वास्तविक प्रतिमूर्ति है। या यों कहा जाय कि किसी सुरक्षित भवनके एक कमरेमें दीवालकी खूँटियोंपर वीणा टाँग दी गई है। उसके तार खिचे हैं। स्वर मिले हैं। हवा आई या बजानेवाला आया। किसीसे किसी समय तारोंमें ठोकर लगी। कर्ता अपना काम करके चला गया। रह गई केवल तारोंकी झनकार। यह सनक भी कुछ ऐसी ही झनकार है। करुणामय दृश्य देखता हूँ; सरिताके तीर जाता हूँ, दोनों स्थलोंसे एक उच्छ्वास पैदा होता है—दुःखका और सुखका। मैं घर आता हूँ। वे दृश्य सामने नहीं होते। फिर भी एक बार जब भावनाएँ जगा दी गईं; जब प्रत्येक नसपर उसका असर पड़ गया, दिमागकी सतहपर विचारोंके चिह्न बन गए, निशान पड़ गए तो उन भावनाओंका रूप रहा ही। कभी-कभी वह रूप इतना धुँधला होता है कि उसका हवामें उड़ जाना मुझे जान ही नहीं पड़ता है और कभी-कभी इतना घना कि उसके अतिरिक्त और कुछ ध्यानमें ही नहीं आता। कविता कल्पनाओंकी कहानी है और स्मृतिका स्थान उसमें सम्वेदनाका है। यदि इन्हें जीवनकी परिधि और केन्द्र कहा जाय तो जिन्दगी ही स्वयं एक सुन्दर कविता है। सम्भव है इसी अर्थमें यह कहा जाता है कि बड़ा कवि वही है जो स्वयं एक बड़ी कविता हो।

फिर अपने काम समाप्त होते जा रहे हैं और अपने जीवनके लम्बे दिन भी जैसे भागते जाते हैं। एक क्रान्तिका क्रम-सा लगा है और एक अजब-सा जुलूस निकला है जिसके आदि और अंतका पता ही नहीं। हमारे कामोंको हमारे उत्तराधिकारी भुला देते हैं और वे किसी अदृश्य गर्भमें पड़े ही रह जाते हैं। इसी गतिमें कुछ बचा लेना—कुछ जुलूसके जानेका रंग ही सही—कुछ करुणा और सौन्दर्यका मिश्रण ही सही, यही जैसे कविका एक अपना रंग है। कवि अपना-सा एक अलग रंग कैसे बना सकता है? वह जगत्के विभिन्न रंगोंसे घिरा है। विभिन्न दशाओंमें दुनिया उसके सामने ही घूम जाती है। छोटा-सा बीज, एक जर्रा-सा, हवाके झोंकोंमें परेशान

होता हुआ, अठखेलियाँ करता हुआ बंजर और पहाड़ोंपर हवाके साथ चक्कर लगाता है। ठण्डा और गरम वायु मानसूनकी गोदमें नाचता हुआ सुबह और शाम अपने सरस हाथोंसे छू जाता है और बादलोंकी सजल चितवनपर लघु बीजमें अंकुरोंका विकास हो जाता है। फिर आकाश और पृथ्वीकी देख-रेखमें अंकुर कोमल-कोमल पत्तियोंके भारसे कुछ गम्भीर-सा हो जाता है; फिर फूल और फल कितनोंको तरसाने वाले। भौंरा तो जान-तक फँसा देता है। किन्तु अन्तमें जुलमका एक भयंकर तूफान और कालकी लाल-लाल डरावनी आँखें। अन्त और पूरा अन्त! फिर विस्मृति..... चिरकालके लिये। दार्शनिकोंका यह नश्वर संसार इसी विनाशका फल-स्वरूप है। निःसारताके उनके वे सिद्धान्त चाहे कुछ भी महत्त्व रखते हों, मैं उन्हें विश्वव्यापी कहनेमें हिचकता-सा हूँ [हो सकता है मैं उन्हें पूर्ण-तया समझता न होऊँ]। मेरे लिये यहाँ कुछ चीजें शाश्वत भी हैं क्योंकि मैं जगत्का प्राणी हूँ और वह परलोक मेरी कल्पनाकी सृष्टि है। उसका अस्तित्व एक प्रकार मेरे ही ऊपर है। कल्पना और स्पर्शकी वस्तु अपनी है। वे चीजें जो मानवके हृदयकी गहरी और सूक्ष्मतम प्रतिध्वनियोंको जगा देती हैं ऐसी हैं जो बदलती नहीं। वे नित्य हैं। इन्हीं वस्तुओंपर कविता सजीव बनकर खड़ी होती है। जो वस्तु जितनी व्यापक है, कविता की नींव बनकर वह उतनी ही उसे स्थायी बनानेमें सहायक होती है। वह कवि उतना ही अमर है जितना वह इन वस्तुओंपर अपनी कला निर्माण करनेमें सफल है।

मैं जब कोई वस्तु देखता हूँ तब अनुभवोंके साथ कल्पना भी तुरन्त जागरित होती है और भूतकी स्मृतियाँ तथा भविष्यकी आशाएँ सभी उसके क्षेत्रमें आ जाती हैं। जो कुछ सुन्दर है, उससे आत्माको अधिक मिला देना ही कल्पनाकी शक्ति है। आकर्षण, मनोरंजकता तथा ऐसे ही बहुतसे तत्त्व कल्पनाकी देख-रेखमें विहरा करते है। प्रत्येकका अपना-अपना रूप होता है। प्रत्येकमें थोड़ा-बहुत अन्तर भी होता है क्योंकि समान गुण रखते हुए

भी उनका उद्गम-स्थान भिन्न है। फिर भी यदि हम उन्हें किसी विशेष व्यक्तिमें सीमित न करें तो रूप और गुण कलाके विचारसे लगभग एक-से ही हैं। बहुत-सी चीजें ऐसी हैं जो सबके लिये सुन्दर हैं। यह बात दूसरी है कि कोई 'ताज' की उपयोगिता न माने किन्तु उसकी सुन्दरतापर तो वह थोड़ी देरके लिये कुछ सोच ही लेगा। पर्वतोंकी हिमाच्छन्न शिलाओंपर उसका मन कुछ काल तक विश्राम करेगा ही। ऐसे कितने लोग हैं जो प्रकृतिके वेदनात्मक स्थलोंपर दो घड़ी रुक नहीं जायँगे और कितने ऐसे हैं जिन्हें चन्द्रकिरणोंको देखकर कुछ परिवर्तित नहीं होना पड़ेगा। हाँ, यह बात माननेकी है कि हमारे दृष्टिकोण भिन्न होंगे। दया, ममता, करुणा और उत्साह ऐसे ही स्थलोंपर जीवनसे हाथ मिलाते हैं। कल्पना जैसे इस मिलनका आधार है। कवि व्यक्तिका निरीक्षण करता है और वह आसमन्तात् उसे समष्टिकी कसौटीपर रखना चाहता है। वह अपनी परखमें विभिन्न वस्तुओंमें समभाव पानेका प्रयत्न करता है और तुलनात्मक विचारों से उन्हें काटता-छाँटता, छोड़ता-अपनाता हुआ वह एकत्वकी ओर जानेकी चेष्टा करता है। ऐसा ही आदर्श जहाँ निश्चित हुआ कि उसकी स्थिति अमर हुई। इन आदर्शोंका निर्माण व्यक्तिके जीवनसे होता है। इसी अर्थमें कविता जीवनकी समालोचना कही जा सकती है। सड़कपर मीलोंके पत्थर यात्राकी माप है और ऐसे ही व्यक्तिका जीवन जनमात्रके जीवनको जगानेमें सहायक है। मैं जीवनमें कहाँ हूँ, केवल अपने से नहीं जान सकता। कितनी दूर चला आया, सड़कके किनारे लगे हुए पेड़ोंको गिनकर नहीं जान सकता। मुझसे पहले जानेवालोंने शायद हो सकता है पेड़ गिने हों पर असफलतापर उन्हें पत्थर गाड़ना ही पड़ा। कवि कुछ ऐसे ही सिद्धान्तोंपर अपनी प्रयोगशालामें जीवनको जाँचता है। इस परखके लिये साधन होती है कल्पना और स्मृति। कल्पना और स्मृतिका जागरण सम्वेदनासे होता है।

आह और आँसूसे बना हुआ प्यार, आशा एवं उच्छ्वाससे विरचित उत्साह ही सम्वेदनाओंकी जड़ें हैं। इस पलको मैं कितना घृणा करता हूँ

जब कि मैं नहीं चाहता कि आँसू आवे और वह आ जाता है। उस घड़ीपर कितनी श्रद्धा होती है जब मैं चाहता हूँ बूँदे गिरें और वे टपक पड़ती हैं। घृणा और श्रद्धापर सम्बन्धका रहना या न रहना निर्भर है। हम क्रन्दनपर काँप जाते हैं और जो साहसी बनकर इसकी अवहेलना करना चाहते हैं वे इस बातको साबित करते हैं कि कँप जानेका भय उनमें हैं। यही बात हमारे हास्योंमें भी है। मैं हास्यके उद्गम-स्थानोंपर पहुँचना चाहता हूँ क्योंकि मुझमें हँसनेसे रति है। किसीके उपवासमें मुझे ऐसा जान पड़ता है कि वह देवताओंके साथ भोजन और कमलोंके समीप चुपचाप बैठकर वीणाकी ध्वनिके साथ-साथ वाणीका सरस संगीत सुना करता है और किसी के उपवासमें ऐसा जान सड़ता है कि वह समस्त नसोंको समेटकर, रगोंमें आग लगाकर सुखी जगत्को भी फूँक देना चाहता है—उसके अन्यायसे पीड़ित और रुष्ट होकर। इस तरहकी खींचातानी अपनेमें और अपनेसे बाहर सदैव लगी है। कविता यद्यपि इन्हीं स्थलोंपर जन्म लेती है किन्तु वह सरूप होकर इन्हें मिटानेका प्रयत्न भी करती है। वह पालती है उसीको जो उसके निर्माणमें हाथ बँटा सके। कविताका आदि और अन्त मानव तथा प्रकृतिमें होता है। पारलौकिक कही जानेवाली बातें तो मानवमें ही संलग्न है।

बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो देखनेमें चाँदी हैं किन्तु उनका घटियापन दुराया नहीं जा सकता और बहुत-सी ऐसी हैं जो पहले पहल घटिया दिखाई देंगी किन्तु उनकी वास्तविकता प्रयोगमें परखी जायगी। सच्ची बातें भी झूठी हो सकती हैं और असत्यमें भी इसी प्रकार सत्य पाया जा सकता है। स्त्रीका हृदय इसीलिये सच्चा है कि वह झूठा भी है और बहुतसे गुणी कहे जानेवालोंका कलुषित, क्योंकि वे शुद्ध हैं। इस सत्यमें असत्यका और असत्यमें सत्यका सामंजस्य इस कलासे हुआ है जो पहली निगाहमें आश्चर्यजनक है। इस तरहके विरोधी विचार बहुतेरे मिलेंगे और ऐसे ही यह कहा जा सकता है कि पुण्य करना सरल है किन्तु पाप करना

कठिन। सेवक स्वामी हो सकता है और स्वामी भी सेवक कहा जा सकता है।

बात कुछ उल्टी-सी है परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि वह अप्रिय है क्योंकि कितनी ही उल्टी बातें हमें प्रिय हैं। झूठ बोलना पाप कहा गया है किन्तु कितने ऐसे हैं जो उसे पाप समझते हैं। झूठ बोलना पुण्य भी है। परिस्थितियाँ ही हमारी कसौटी हैं और प्रिय तथा अप्रियका निर्णय वस्तु विशेषकी सत्यतासे हम नहीं करते किन्तु कभी-कभी या बहुधा उसकी वास्तविकताका पता हम उसके परिणामसे लगाते है। वह गृहस्थ अच्छा था जिसने शिकार छिपाकर शिकारीको धता बताया, यह कहकर कि कहीं घरोंमें भी शिकार आते हैं और वह व्यापारी बुरा था जिसने निर्धन संतप्त खूनीको घरसे निकाल दिया। कितने है जो जलते घरोंमें बाढ़का आना नहीं पसन्द करेंगे। बाढ़में बहुतेरी बही हुई सामग्रियाँ पकड़ी जा सकती हैं किन्तु जली हुई चीजोंको किसने रखा है। यदि सेवकमें स्वामित्वकी स्थापना की जाय तो यह भी खटकने-वाली बात होगी किन्तु इसे भी उन्हें उसी भाँति स्वीकार कर लेना चाहिए जिस प्रकार वे बहुत-सी उल्टी बातोंको प्रिय बना लेते हैं। यदि एक और उल्टी बात मान ली जाय तो इससे उनका पेट नहीं फटेगा। यह पाचक उनकी अँतड़ियोंको साफ कर देगा और वे स्वस्थ तथा सुदृढ़ दिखाई देंगे। यह नहीं कहा जाता कि वे सेवकत्वको अपने ऊपर लाद लें और बाजारोंमें खच्चरोंकी भाँति घूमा करें नमककी गठरी लेकर किन्तु उनकी पेटियोंमें इस बातके लिये प्रार्थनापत्र अवश्य दबाया जायगा कि वे उसे अपनेमें या पास रखें। इतना अवश्य ध्यान देना होगा कि वे कृपया इस कागजको पेटीमें दबी हुई मछली न समझ लें जिसका ज्ञान उन्हें उसके सड़ जानेपर होता है। उन्हें यह जानना चाहिए कि यह कागज है, सड़ेगा नहीं किन्तु उनकी पेटियोंके दफ्तरमें पड़ा-पड़ा सम्पूर्ण कार्यालय दूषित कर देगा और उनकी पेटियोंमें स्याहीकी रेखा खिंच जायगी।

केवल गुणी होनेसे ही किसीका हृदय नहीं शुद्ध हो जाता और कोई सेवक रखने से ही स्वामी नहीं होगा। मस्तिष्ककी शुद्धता जिस प्रकार तर्क-पर निर्भर है वैसे ही इस प्रकारके स्वामियोंका स्वामित्व समाजपर निर्भर है। यदि तर्क और समाजकी गति अटूट है और सार्थक है तो सम्वेदना और सिद्धान्तका आवागमन भी मिथ्या है। इन दोनोंको यदि फुटकरमें फेंक दें तो समाज एक ऐसा शरीर होगा जिसमें केवल मांस-पेशियाँ ही होगी, अस्थि और चर्मका कहीं चिह्न भी नहीं। समष्टिमें सम्वेदना और सिद्धान्तका आवागमन सत्य है। सिद्धान्त आते हैं, जाते हैं। सम्वेदनाएँ मरती हैं, जीती हैं। मृत्युके इस पहलूमें जीवन तत्त्वका खजाना है। उन्हें यह जानना चाहिए कि अन्तः शुद्धि और स्वामित्वके लिये किसी और वस्तुकी आवश्यकता है। एक यह न जाने कि उसके पास मस्तिष्क है और दूसरा यह न जाने कि उसने सेवक रखा है।

यदि सेवकके अस्तित्वको स्वामी भूल जाय तो वह अपने अस्तित्वको भूलता है। छोटे और बड़े दोनों एक दूसरेको बनाए हुए हैं। ये गौरवमें दोनों एक हैं। यदि बुराइयोंकी गठरी बाँधकर समुद्रमें फेंक दी जाय तो भलाइयोंको भी हिमालयकी बर्फीली चोटीपर गलना होगा। वे जो सागरमें फेंकी जानेवाली हैं बहुतोंके लिये चन्द्रशिखरपर जानेके लिये साधन हैं। जिसने सेवक नहीं रखा वह स्वामी नहीं है और जिसने स्वामी नहीं बनाया वह सेवक नहीं है। जो न स्वामी है न सेवक है, वह स्वयं सेवक है स्वयं स्वामी है। लघुताओंसे महत्ता निकाल लेना जैसे कविका कर्त्तव्य है। उसके लिये कोई चीज छोटी नहीं और जो हमारे लिए नगण्य है वह उसके लिए महान् है। मैं सोचता हूँ कि काशीको बड़ा बनाना फजूल है। वह तो बड़ी है ही, यह सभी जानते हैं। यदि गाँवोंमें गुरुता पाई जाय तो यह बड़ी बात है, किन्तु साथ ही साथ यह भी याद रहे कि गाँवकी सड़क काशीको भी जाती है। उचित है कि हम सभी सड़कोंपर चलें क्योंकि सभी काशीतक

पहुँचती हैं। यदि दिन रात काशीकी गलियोंमें घूमा करूँ तो कम-से-कम मेरी तो तबियत ऊब जायगी।

निरादरकी इन सामान्य वस्तुओंमें खोजना है तथ्य और सदाचारको। सदाचारके सौन्दर्यकी जितनी गहरी धारणा होगी और जितनी ही सहृदयतासे हम उसका आरोप सार्वजनिकतामें करेंगे, जगत्की छोटी-छोटी वस्तुएँ उतनी ही हमारे समीप होती जावेंगी। यदि प्रत्येक वस्तुको हम इस साधारणको मजबूत बनानेका जरिया समझ लें तो बड़ी बात हो। मानवताको जाननेके लिये प्रकृतिका अणुसे अणुतक प्रत्येक भाग सहायक है।

जहाँतक कवितासे संबंध है, इन वस्तुओंके संसर्गका दूसरा कारण भाव-प्रकाशनमें स्पष्टता लाना है। हम जिस भाषाका प्रयोग करते हैं हमारे विचारोंका यथातथ्य प्रकाशित करनेमें एक प्रकार असमर्थ-सी है। हमने जो शब्द बना लिए हैं, वे बाहरी संसारको संज्ञामें लानेके लिये गढ़े गए हैं। कमल केवल एक फूलका निर्देश करता है। वह हमारे आन्तरिक जगत्का चित्र खींचनेके लिये पर्याप्त नहीं। शरीरके अन्दर जो अष्ट कमलदल है वह शारीरिक प्रतिक्रियाओंका केवल निर्देशमात्र करता है उनका वास्तविक रूप नहीं दिखलाता। जो वस्तु बाह्य संसारमें गढ़ी गई है वह अन्तर्गत्को दिखलानेमें कमजोर होगी ही। मानसिक क्रियाओं (विचार-कामना-स्मृति-दया-प्रेम-घृणा आदि) को जब हम किन्हीं खास शब्दोंसे नहीं बता पाते तो इन्हीं बाह्य वस्तुओंकी व्याख्या करके हम उन विचारोंकी साकारताके समीप पहुँचनेकी कोशिश करते हैं। इस प्रकार कई प्रकारकी उपमाएँ बनती हैं। हम अपने मनकी क्रियाओंको समझनेके लिये पृथ्वी और आकाशकी शरण लेते हैं। जो जितना ही इन वस्तुओंके समीप है और जितनी ही अधिकतामें ये वस्तुएँ उसके क्षेत्रमें हैं वह उतना ही व्यापक और लोकप्रिय है। वह व्यक्तिमें सीमित न होकर सर्वजातीय है।

कलाकार यदि अमर बनना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह सामान्य वस्तुओंसे उछलता कूदता सरहस्य पदार्थोंपर जा टिके। वह एक ऐसी

अनुभूति पा ले जिसपर वह जगत्को तौल सके और जो युगोंके बाद भी तथ्यहीन न हो सके। जो अनुभूति सार्वजनिकता लेकर चलती है वह सृष्टिके साथ-साथ रह सकती है। महाकवियोंकी अनुभूति ऐसी हो होती है। तुलसी एक युग-विशेषमें पैदा होते हुए भी सभी युगोंके हैं।

इस संबंधमें इन विचारोंकी कहाँ तक रक्षा हुई है मैं नहीं कह सकता क्योंकि ये विचार सामने रखकर तो यह काव्य लिखा नहीं गया। 'नशे' के उतारमें थोड़ी बहुत इनकी रक्षा हो गई हो यह दूसरी बात है। इच्छा होती है कि एक अपनी भी अनुभूति बन जाय किन्तु यह केवल एक स्वप्न ही है। सपने चूँकि अपने हैं, उनमें अपनापन ही प्रधान होगा। मैं स्वयं समझता हूँ कि कहीं-कहीं मैं अपनेको प्रकाशित नहीं कर सका हूँ। इसका तात्पर्य यह नहीं कि मैंने भाषाको कमज़ोर पाया है बल्कि बात यह है कि भाषाके लिये मैंने निजको सर्वथा असमर्थ पाया है। मैं अभी उसका शासक नहीं वरन् उससे ही शासित हूँ। इसका कथानक एक प्रकारसे भाव-प्रकाशन का साधन है। विचारोंको जगह देनेके लिये यह कथानक बन गया जिसकी घटनाएँ सभी सच्ची हैं। विभिन्न स्थलोंपर विभिन्न समयोंपर घटी घटनाएँ निम्नांकित कथामें सम्बद्ध कर दी गई हैं :

"चन्दनपुर एक गाँव था। वह मगई नदीके किनारे स्थित था। उस गाँवके भूमिपतिका नाम धनपति था। धनी हो जानेपर विद्याके अभावमें जो दोष सत्ताधारीके पास धनके साथ आ जाते हैं वे सब धनपतिमें सक्रिय रूपसे वर्तमान थे। चन्दनपुरका प्रत्येक नागरिक उससे भय खाता था क्योंकि वह गाँवके सभी नर-नारी, पशु-पक्षी तथा सम्पत्ति एवं ऐश्वर्यको अपने विलासका साधन समझता था। गाँवपर उसका निरंकुश राज्य था। वह एक प्रबल जमींदार था।

गाँवमें अनेक सभ्य मानव भी थे किन्तु उनके आदर्श विचार धनपतिके स्वरूपके समक्ष दबेसे रहते थे। ऐसे जनोंका प्रतिनिधि था धर्मदेव वह धर्मका रूप था। उषा उसकी पत्नी थी जो रूप और गुणमें सचमुच उषा

थी। तारा और सुबोध उसके दो बच्चे थे। तारा थी बालिका और थी सुबोधकी अग्रजा। वह उसके आकाशकी वह तारिका थी जिसके प्रकाशसे उसका जगत् आलोकित था। सुबोध बालक था। वह छोटा था। माता-पिताके चरित्रकी छाप उसपर स्पष्ट थी।

धनपतिकी क्रूर आँखें उषापर पड़ीं। उसने भीषण जाल फैलाया किन्तु उसके कराल कर कभी उसे छू तक न सके। उसकी मायाके सभी धागे एक-एक कर टूट गए। धनपतिने विकराल रूप धारण किया और उसके अत्याचार प्रत्यक्ष आरम्भ हो गए। धर्मदेवके खेत काटे गए, पशु लूटे गए। वह महादरिद्र कर दिया गया किन्तु उषा अपने पति और बच्चोंके आँसू पीकर अपने चरित्रपथपर चलती रही। रावणकी लंकामें सीता दूध बनी रही।

धनपतिका अन्तिम अत्याचार धर्मदेवका गृहदाह बनकर आया। उसके पूर्वजोंका घर जला डाला गया। इस विपत्तिसे परितप्त होकर उषाने इस कामनासे विषपान कर लिया कि जब वह संसारसे उठ जायगी, उसके प्रिय पति और बालकोंके कष्ट मिट जायँगे। वह जानती थी कि धनपतिके कुठार उसकी मृत्युके पश्चात् उसके प्रिय पति एवं संतानके लिये कुण्ठित हो जायेंगे।

हुआ भी कुछ ऐसा ही। उषा सच्चरित्रताकी बलिवेदीपर बलिदान होकर अमर बन गई और धनपतिने अपना कलुषित लक्ष्य न पाकर मुँहकी खाई। किन्तु धर्मदेव अब उस गाँवमें न रह सका। अपना जन्मस्थान छोड़कर वह बालकोंके साथ अन्यत्र चल पड़ा। उषाके जानेके बाद प्रचण्ड सूर्यके दिवसमें मानो जीवन-संग्राम जीतनेकी धारणा लेकर धनहीन, गृहहीन, जनहीन धर्मदेव अपनी दो निधियाँ लेकर चन्दनपुरसे दूर कहीं और चल पड़ा। यहाँ रह गई उसके पावन चरित्रकी गाथा।

गाँव सूना हो गया। नारी-रत्न उषा उठ गई और नर-रत्न धर्मदेव चला गया। ग्रामीणोंकी सुन्दर सांत्वना सो गई और टहलू तथा महँगूके

लिये सब कुछ लुट-सा गया। ग्रामीण समाज ध्वस्त गढ़-सा पड़ गया।

दिन बीते, मास बीते, वर्ष बीते। गलियोंकी खाक छानकर तपस्वी धर्मदेव वृद्ध हो गए। उनकी नेत्रशक्ति क्षीण हो गयी। वे अन्धे हो गए। उनके बच्चे भोजनाभावसे अत्यन्त निर्बल हो गए। राह चलना कठिन हो गया। लड़का मार्गसे ठोकर खाकर गिर गया और मूर्च्छित होकर मृत-प्राणी-सा पड़ा रहा। जर्जर धर्मदेव उसे उठा तक न सका। अनुभवहीन तारा स्तब्ध खड़ी रही। धर्मदेवने सुबोधको मृत जानकर और अपनेको उसकी जलसमाधि देनेमें सर्वथा असमर्थ एवं अशक्त पाकर वहीं पड़े रहने दिया और वह आगे बढ़ गया। कन्या उसकी पथ-प्रदर्शिका थी। समय बीता। अब धर्मदेव चल भी नहीं पाता। मगई नदीके किनारे एक कुटी बनाकर वह पड़ रहा। तारा पुष्पसंग्रह करती और उसीके विक्रयसे अपना तथा पिताका पेट पालती। धर्मदेवका चरित्रबल इतना विशाल एवं व्यापक बन गया कि समाजका प्रवाह उसके अनुसार चल पड़ा।

पथपर पड़े सुबोधको प्रेमादेवीने पाया। प्रेमा प्रकाशकी पत्नी थी। प्रकाश जनसंघका अधिष्ठाता आदर्श किसान और आदर्श नागरिक था। धर्मदेवकी तपस्या प्रकाशके व्यक्तित्वमें क्रियाशील हो उठी थी। प्रेमा आदर्श नारी थी। इस सम्पत्तिकी छायामें क्षुब्ध सुबोध बढ़ता गया। अब प्रेमा उसकी माँ-बहन थी और प्रकाश उसके पिता। वह प्रकाशके लिये पूजा-पुष्प लाया करता। वहीं सरोवरके तटपर तारा और सुबोध मिले जो अब अवस्थामें आगए थे। उनका नैसर्गिक स्नेह जागा। वे फिर परिचितसे लगे किन्तु वे अपना अस्तित्व न जान सके। एक दूसरेको पहचान न सके। वे भाई-बहन-से रहने लगे किन्तु उन्होंने स्वप्नमें भी नहीं जाना कि ताराका सुबोध वही सुबोध है जिसे ताराने खो दिया था और सुबोधकी तारा वही तारा थी जो उससे अलग हो गई थी। सुबोध धीरे-धीरे संघका संघ-नायक बन गया और ताराके संसर्गमें आकर वह धर्मदेवजीकी दिव्य ज्योतिकी वह राशि पा गया जिससे वह आदर्श पुरुष बनकर जनप्रिय और जनसेवक बन

गया। मनस्वी सुबोध, जो प्रेमाके संसर्गमें आकर 'प्रेम' कहलाया, संघकी नवशक्ति था। सुबोधके प्रबल व्यक्तित्वसे प्रभावित होकर श्याम और मनोहर संघके सेवक बन गये।

सती उषाके प्रयाणसे और धर्मदेवके समस्तान गृहत्यागसे धनपतिका अभिमान चूर्ण हो गया। उसकी पशु-प्रवृत्ति जो अपनेको अजेय समझती थी इन महान् त्यागियोंके सामने अत्यन्त निर्बल और नगण्य सिद्ध हुई। उसमें परिवर्त्तन आया। वह चन्दनपुरका नम्रतम प्राणी बन गया। अपनी सम्पत्ति उसने ग्रामीणों एवं दरिद्रोंमें बाँट दी और चिकित्सालय एवं पाठ-शालाके रूपमें गतात्माओंका स्मारक निर्मित किया। इनका उद्घाटन जन-नायक सुबोधने ही किया, किन्तु उसे नहीं ज्ञात हुआ कि यह वही सुबोध है जिसका मातृ-दीप उसीके द्वारा सर्वदाके लिये बुझा दिया गया था। धनपति उस संघका एक सक्रिय सेवक है। वह अपने पापोंको सदा सोचता है। वह सदा अपना अन्त चाहता है।

जिसकी दिव्य ज्योतिके कारण यह सब होता रहा वह अब समाप्त होनेवाली थी। धर्मदेव अब संसारसे चलनेवाला था। पिताका हृदय युवती ताराके लिये चिन्तित था। जीवन-लीला समाप्त हो रही थी। कभी चेतना और कभी मृत्युका दर्शन, मूर्छा और शिथिलता। बहुतसे जन आ गए थे। सुबोध भी था। वहीं धनपति भी आ गए। धनपतिने धर्मदेवको पहचाना। उसका अभिशप्त कलेवर पुलकायमान हो गया। उसने धर्मदेवके हाथोंसे अपनी मृत्युकी याचना की कि उसका प्रतिशोध हो जाय। पापीके हृदयसे उसकी आत्मा शान्ति पा ले, धनपतिकी यही कामना थी। इसी कामनासे जैसे वह जीवित था। जीवन और मृत्युकी संधि-रेखापर धर्मदेवकी आँखें एक बार पुनः उन्मीलित हो उठीं। उसने धनपतिको देखा। धनपति आज तपा-तपाया स्वर्ण था। वह एक ऐसा सुदृढ़ ठोस प्रस्तर खण्ड बनकर खड़ा था जिसकी मिट्टी जल-प्रवाहके संघर्षसे धुल गई हो। धर्मदेवने ताराको उसीके सहारे खड़ा कर दिया। उसने अपनी पुत्रीको उसीके हाथ सौंप दिया

और शान्तिसे अन्तिम साँस छोड़ दी। इसी स्थलपर सुबोधने अपने पिताको जाना और ताराको पहचाना। तारा अपने बन्धु सुबोधको पाकर प्रसन्न हो गई। किन्तु उसके पिता अब न रहे।

पिताके अन्तिम दर्शनसे सुबोधकी साधना सफल हो पाई। उसने कितना चाहा कि उसके पिता रुक जायँ, अपनी लालसाएँ पूरी कर ले, अपने पावन पिताके चरणोंपर दो चार स्नेहाश्रु बहा ले; किन्तु वह दिव्य ज्योति चली ही गई।

सुबोध अपने 'पथ-पर' चलता रहा। अपने-अपने पथपर चलना ही तो उसने अपने देव-पितासे सीखा। उसने यही कामना की कि सभी अपने-अपने पथपर चलें।

इस प्रकार धर्मदेव कथाका केन्द्र-बिन्दु है। वह किसी सामन्त या तथा-कथित सम्भ्रान्त परिवारका व्यक्ति नहीं। वह चन्दनपुरका एक साधारण ग्रामीण है। वह शुद्ध किन्तु विजित वर्गका प्रतिनिधि है। उसका बचपन लाड़-प्यारमें बीता। उसीके शब्दोंमें—

> मैं भी बालक बन रोया था ले अपना संसार
> हँसती थी माता की जगता देकर अपना प्यार;
> गेहूँकी रोटीपर हठकर देता था घट फोड़
> माँ पुचकार बुलाती थी आ, ले ले कुछ मत तोड़
> और दौड़कर मैं आता था फिर जाता था भाग
> बाहोंके बल कहीं छिपाकर माँकी आँखें त्याग,
> यह लुक छिपका खेल, चला आता था मैं फिर दौड़
> जब कहती थी माँ, आओ बिल्ली, तुमको दूँ तोड़।
> दही - भातके तोते - मैंने-से था मेरा प्यार
> बड़ी छड़ाके घोड़ेपर था जाता जीवन हार,
> धूलभरी अलकोंमें करता था रचना निर्मूल
> हँस देता था जब गिर पड़ते, मातृ - कूलमें फूल।

आदि.....। (द्वितीय सर्ग)

उसकी जवानीकी 'उल्लासोंकी रम्य हँसीमें
चिर यौवनका शान्त
रस बरसा था.....

और

.....जीवनके प्रान्त
कितने सुन्दर थे वे जिनमें शशि कर कोटि पसार
कण - कणको शीतल करता था भर कर प्यार अपार।

(प्रथम सर्ग)

वह स्वयं नहीं आँक सका। वह स्वयं नहीं जान सका था कि—

उसकी सहचरीके..... सरस कपोल
कितने सुन्दर हैं ; इनमें है लालभरा अनमोल।'
केवल इतना ही तो वह जान सका था।
वह जाती थी रूठ क्षणिक में बनते और उदास,
पास - पास हम मँडराते थे लिये मिलनकी आस,
मेरा प्रिय सुबोध भी अपनी तुतली बोली बोल
घुटनोंके बल दौड़ मालिनका मधु अंचल खोल
माँकी चितवन खींच पिताकी आँखोंसे दे जोड़
अन्तरका साम्राज्य सदय देता था हँसकर तोड़।

(द्वितीय सर्ग)

स्वकीया प्यारकी गुदगुदी उसके अन्तरमें जब—

रग - रगके बन्धनमें बँधता जाता अस्थि - समूह,
पग - पग उसके रोम-रोमसे जरा रही थी झाँक
तन परिवर्तित हुआ धूलमें पथकी धूलें फाँक।

(प्रथम सर्ग)

तब भी एक रागसे बनी हुई है क्योंकि—

सुन्दरता है सत्य·····

(दशम सर्ग)

सुन्दरताकी विजय विचारोंकी होती है हार
जहाँ लगन है वहाँ न लगती बाजी बारम्बार ।

(षष्ठम सर्ग)

स्नेहकी बाजी केवल एक ही बार लगती है और फिर जहाँ लगन है वहाँ तो पुनरुक्तिका प्रश्न ही नहीं उठता ।

चन्दनपुरके भूमिपति धनपतिके अत्याचारोंसे पीड़ित होकर उसकी धर्मपत्नी उषा—

मधुर विषाद लिये ओठोंपर छुईमुईसी हाय
विभव समेटे गरल पात्रमें हो करसे निरुपाय ।
चली गई उस पार विश्वके देकर तीखी याद ।

(प्रथम सर्ग)

फिर तो—

अरे वियोगी क्यों कहते जीता जबतक अनुराग—

(प्रथम सर्ग)

की पहेली लेकर

गली - गली दिन - रात····· । अन्धा था, अन्धी दुनियाँमें
गति थी जिसकी अन्ध अन्ध मार्गपर वह जाता था

और

फटे - पुराने वस्त्र, रज्जु था और हाथमें पात्र
यह था उसका विभव, विश्वका वैभव जीवन मात्र ।
कुछ तन्दुल था बँधा हुआ उसकी चादर के कूल
सूखी हुई वाटिकाका था बचा हुआ यह फूल ।

(प्रथम सर्ग)

क्योंकि उसीके शब्दोंमें :

पर धनपतिकी कुटिल चालसे लगी भवनमें आग
शेष रहा तिनका न एक था संचित जिसमें राग।
धरन, बंड़ेरे जले, जले सब मेरे लघु प्राचीर,
जले भाँड सब, जली कठौती, जले सँजोये चीर।
जला सूप, चालन जल गई, जल गया अपना धाम
किया पूर्व पुरुषोंने जिसमें सुखसे था विश्राम।

(द्वितीय सर्ग)

जब उसकी पत्नी उषाने विषके प्यालेसे अपने जीवनका अन्त कर लिया तब धर्मदेव अपनी पुत्री तारा और पुत्र सुबोधको लेकर चन्दनपुरसे चल दिया। उसकी वे सन्तान :

निर्जल जलाशयोंके जलकी वे दो बूँदें ब्याज
बची हुई हैं ला देगी कब वह पावसका राज।

किन्तु :

निर्धनतामें है जाना अपना जिसको जंजाल
नियति चक्र लेकर बढ़ता है जिसपर तन विकराल
जिसकी कहीं न पूछ न है जिसका कोई आवास
खोई निधि है बची हुई अब केवल जिसके पास
मिल जाता है कई दिनोंपर जिसको सत्तू साग
और भागना चाह रहा जो तजकर जगका राग
उसके लिये रचा जाता है यह मायाका जाल
आ जाते हैं बन वैभव उसके सुन्दर दो लाल।

(प्रथम सर्ग)

वियोग और वेदनामें अभावकी दुनिया लेकर वह संसारका स्वार्थी प्राणी नहीं। धर्मदेव एक सच्चा नागरिक है। जहाँ वह अपने अधिकारों की रक्षा चाहता है वहीं वह यह भी चाहता है कि कहीं वह कभी अपने

अधिकारोंका दुरुपयोग न करे। वह आत्मबलकी शक्ति छोड़कर अन्य कोई शक्ति नहीं चाहता। वह कहता है—

दे न विभव ; रख दूर नामसे ; बहुत दूर बलसे ; न
मिले निराशा ; प्यार मिले निर्बलतामें ; जगके न
घृणा भाव चुपकेसे आकर छीन जगत् विश्वास
करें कभी जीवन उदास·····

(दशम सर्ग)

वह विश्वका एक ऐसा प्राणी है जो किसीसे घृणा नहीं करता। मनुष्योंके प्रति उसकी ममता है। वह ममत्वके पास निवास करना चाहता है। जिस धनपतिके अत्याचारोंसे वह निर्वासित है, प्रियाहीन है, पुत्र सुबोध से पृथक् हो चुका है और जो अब उसके लिये जगत्में नहीं रह गया है और नदीके किनारे अपनी जीवन-लीला एकमात्र कन्या ताराको जगत्में छोड़कर अब इस जगत्से सदाके लिये चलनेवाला है, उसी धनपतिको वह क्षमादान देकर विश्वका एक अमर प्राणी बन जाता है। ऐसा नहीं कि उसमें प्रतिशोधकी भावना नहीं। वह—

सोच रहा था जीवन भर बदलेकी ही मैं बात।

(दशम सर्ग)

किन्तु धनपतिको अपने समक्ष पाकर वह अपनेमे सदा जलनेवाली चिनगारीको शान्त कर देता है क्योंकि अत्याचारी धनपति आज उसके सामने मनुष्य बनकर आया है। प्रकाश और सुबोधकी छाया तथा उषा और धर्मदेवके त्यागसे धनपति आज मानव बना है। अपने दोषोंको स्वीकार करके उसने अपने हृदयको सुखका स्थान बना लिया है। इतना ही नहीं कि धर्मदेव केवल धनपतिको क्षमा ही करता है बल्कि वह अपनी युवा कन्या ताराका भविष्य भी उसीपर छोड़ देता है क्योंकि उसका व्रत है —

घृणा पापको करता हूँ मैं. पर पापीको प्यार।

(दशम सर्ग)

धनपति पापीको धर्मदेव आज केवल प्यार ही नहीं करता किन्तु अपना आत्मीय और विश्वासपात्र बना लेता है। धनपतिका पाप उसके इस परिवर्तनमें दूर हो गया है। वह समाजसे ही बना है और अपना शेष जीवन उसने जनता-जनार्दनकी उपासना और भक्तिके लिये जननायकोंके उत्तम आदर्शोंकी छायामें अर्पित कर दिया है। धर्मदेवकी पवित्र निधि उषा का बलिदान उसकी आत्मशुद्धिका जैसे महान् कारण बना। उषादेवीकी स्मृति माँकी स्मृति हो गयी। उसने प्रतिज्ञा कर ली--

.....अम्ब !
अब न करूँगा कभी कहीं कोई मैं अत्याचार;
भूल गया था रे किसलय करता मैं तुमको प्यार।

(सप्तम सर्ग)

भूला हुआ प्राणी फिर पथपर आ गया। उसने नव किसलयोंकी लालीमें एक स्वर्गीय प्रकाश देखा और उसका अंधपथ हँस उठा। महामानव धर्मदेव धनपतिके इस जागरणमें अपना प्रतिशोध पा लेता है।

शान्ति-पथका पथिक धर्मदेव एक महान क्रान्तिकारी है। उसके चिन्तन में अमर जीवन और उच्छ्वासमें महान जनजागृति है। वह कहता है—

झाँक स्वर्गसे देख प्रिये तेरा यह पति निर्दोष,
पर होता है काँटोंसे आपूरित उसका कोष।

(द्वितीय सर्ग)

निर्दोषका खजाना काँटोंसे भरे, वह सहन नहीं कर सकता। वह सोचता है—

हँसनेमें जिसके क्रीड़ा थी गानेमें उन्माद
जिसके तनकी अमर पहेली ले अपना सम्वाद
जगके कण-कणमें भरती थी मादकताका रूप
मौन निर्झरी गिरिसे झर-झर हो जाती तद्रूप
वही आज अपनेमें सुनता है जब जगकी आह

(द्वितीय सर्ग)

तब क्या होगा ? धर्मदेवका प्रश्न सभीसे है। इस समस्याको सुलझाने के लिये वह सबका ध्यान आकृष्ट करता है। भिखारी धर्मदेव सोचता है—

फैलाकर मैं हाथ चला जाता हूँ जिसके द्वार
क्या जाने वह उसी जातिसे मुझपर अत्याचार
किया गया है, दिया गया है मुझको जगका खेद,
वह लूटे, मैं माँगू, हम दोनोंमें है क्या भेद ?
माँग रहा हूँ अपना धन तो क्या है इसमें पाप
लेकर जो दानी बनना है तो फिर क्यों संताप।

और—

लूट बन्द हो फिर हो जाये आज माँगना बन्द
क्यों देखे पर-द्वार मिले जो निज घरमें आनन्द

(प्रथम सर्ग)

धर्मदेव समाजका एक वह स्तम्भ है जिसके न रहनेसे उसकी छत गिर जाती है। जिस दिनसे वह चन्दनपुर छोड़कर चला गया है, गाँवका गाँव सूना हो गया है। गाँववालोंको ऐसा लगता है जैसे उनका कोई अमूल्य रत्न खो गया हो। वे लुटेसे प्रतीत होते है। गाँवके एक प्रतिनिधि जन महँगूके शब्दोंमें—

वे दम्पति थे सभ्य गये जबसे यह सूना गाँव
भीतर बाहर बना हुआ है। हम थे एक डकाँव
जिसमेंसे हो गये पृथक हैं चने गोलसे लाल
और बचे भूसे हम हैं तृण हैं विकीर्ण हैं खाल।

(तृतीय सर्ग)

जहाँ वह—

धर्मदेव खेतोंमें खलिहानोंमें था सुरदेव
जिसकी बोलीसे गिरते थे गोल-गोलसे सेव।

(तृतीय सर्ग)

वहीं उसकी पत्नी टहलूके शब्दोंमें—

थी सीता सती समान,
घरमें वनमें वह मैनी थी
छू न सका था मान।

(तृतीय सर्ग)

धर्मदेवका जीवन और जन सबके लिये था। किसीका कष्ट देखकर वह मौन नहीं रह सकता था। दोपहरीकी धूप उसके सेवा-कार्यमें बाधक नहीं हो सकती थी। समानता, उदारता तथा विश्वबन्धुत्व उसकी रागात्मक प्रकृतिके मूल थे। सबके कार्यमें निज जन-सा, घरके प्राणी-सा वह सदा

वही वायु है, वही नीर है वही लतामय गेह,
वही चरन प्यारी प्यारी है वही घहरता मेह,
वही राह टेढ़ी - मेढ़ी है वही पुराना नेह
वही लता है कुंजोंवाली जन मन हरन सरेह
पर खोया है सबने कुछ ऐसा लगता है आज
मिलता है जो कभी नहीं देकर युग - युगका राज।

(तृतीय सर्ग)

सहायक था। तभी तो पुत्री और पुत्रके प्रति उसकी ममता समान, स्वाभाविक और शास्त्रीय है। वह पुत्र और पुत्रीको दो आँखें मानता है। अपनी असहायावस्थामें सहानुभूति एवं नैसर्गिक प्यारके जल उछालकर—

आजा मेरे नयन, देखता कबसे तेरी बाट,
घड़ियोंसे है खुला हुआ यह मेरा हृदय-कपाट।
आ मेरी सम्पत्ति ! चली आ, मेरी प्राण - मरीचि !
आ मेरी विस्मृति - सागरकी मधुर-मधुर-सी वीचि,
मेरे नभके नखत तुम्हें लूँ अन्तरतममें खींच
अंकोंमें रखकर आँसूसे शान्त करूँगा सींच—

प्रथमसर्ग)

की भावनासे उनका और अपना हृदय शान्त करता है।

चन्दनपुर छोड़नेके पश्चात् उसे अपना पुत्र भी छोड़ना पड़ता है। दिनोंके उपवाससे खिन्न हो जानेपर उसका सुबोध एक ठोकर लग जानेसे संज्ञाहीन हो जाता है। उसका अचेतन शरीर मृतप्राय भूमिपर लोट जाता है। वृद्ध और शरीरसे असमर्थ महामानव धर्मदेव उसे वहीं छोड़कर ताराके साथ आगे बढ़ता है किन्तु उसका सबल हृदय—

ढोने में असमर्थ पिता जो अपनी मृत संतान
हे प्रभु उसको क्यों देते हो फिर-फिर जीवन दान
जो न माँगता मृत्यु उसे करते तुम जीवन - दान
जो न माँगता जीवन उसको करते मृत्यु प्रदान
तो क्या जाता बिगड़ तुम्हारा यह गति है अनजान
सुतको मृत्यु, मुझे जीवन, कैसा है यह वरदान ?
(द्वितीय सर्ग)

—की भावनाओंसे जिस करुणाका स्रोत प्रवाहित करता है उसकी अनुभूति बड़ी ही मार्मिक है। और—

क्या है उस जीवन-सा जिसमें प्रति पल प्रियकी याद
एक मधुर स्पन्दन है कैसा है वह चिर आह्लाद
जहाँ न आशा और निराशाका होता प्रतिद्वन्द,
एक-एक बोली है खगकी एक-एक प्रिय छन्द।
(दशम सर्ग)

—का दर्शन धर्मदेवकी महान् साधना और सहनशीलताका परिचायक है। प्रकाश उसके विचारोंका सक्रिय रूप है। पथ-त्यक्त बालक सुबोधका पालन-पोषण प्रकाशकी पत्नी प्रेमा-द्वारा होता है और प्रकाश तथा प्रेमाका यह 'प्रेम' (सुबोधका दूसरा नाम) संघ-नायक होकर एक सभ्य समाजकी स्थापना करता है। धर्मदेवका रक्त सुबोध उसके आदर्शोंको साकार देखना चाहता है। वह कहता है—

मैं अपने पथ चलूँ चलें अपने ही पथ पर लोग
मिले लक्ष्य अपना-अपना, अपना अपना हो योग,
और योग हो एक सभीका सबका पथ हो एक
बढ़ें सभी जिसपर, पाये जिसपर पथ जन प्रत्येक

(दशम सर्ग)

तारा और सुबोध दोनों दो जगह चले। एक धर्मदेवकी आँखोंके सामने प्रकृतिकी गोदमें और दूसरा उसके अज्ञानमें प्रेमा और प्रकाशके पास। पुष्पोंके विक्रयसे तारा अपनी और पिताकी रक्षा करती है। सुबोध भी प्रकाश और प्रेमाके देवालयके लिये पुष्प लाता है। वह आचार्य होता है। तारा और सुबोधका यह मिलन वर्षाके बीत जानेपर एक सरोवरके तटपर होता है। वहाँ दोनों पुष्पकी खोजमें गए हैं। उस मिलनसे उनका स्वाभाविक स्नेह उमड़ पड़ता है और दोनों एक दूसरेके घर आते-जाते हैं किन्तु वे यह नहीं जानते कि वे वास्तविक भाई-बहन हैं। तारा जानती थी कि सुबोध नामधारी उसका छोटा भाई जगत्से उठ चुका था और उसके महान् पिताने आँसूकी चलती गंगामें साँसोंसे उसका प्रवाह किया था। वह मार्गमें ही छोड़ दिया गया था। एक बार जब तारा अकेली कहीं गई थी वहाँ सरके तीर उसने एक खेल देखा था। वह बच्चोंके साथ खेलना चाहती थी। अपनी उस अवस्थामें सुखी समाजका संसर्ग वह दुर्लभ समझती थी। सरके तीर—

इन सबमें था एक और इन सबमेंसे था एक
हो आया उसके संग खेलूँ फिर बचपन प्रत्येक

(पंचम सर्ग)

उन बालकोंके दर्शनमें उसे आत्मीयता मिली और वह पिताके सामने इस दर्शनका प्रसंग स्वयं उपस्थित कर, एक विचित्र करुणावस्थामें पड़ गई। उस बालकके साथ वह अपने प्रत्येक जन्ममें अपना बचपन बितानेकी कामना

करने लगी। उषा और सुबोधकी स्मृतिसे धर्मदेव इतना विचलित हुआ कि तारासे सामने वह सोचकर कि

मेरा ही यह अंध जगत् तेरे जीवनका रोग
कठिन। किसी दिन ले बैठेगा तुम्हें हमारा भोग।

(पंचम सर्ग)

तारका हित उसे छोड़ देनेमें ही है यह एक विचार रख दिया। पिताकी यह अग्नि-परीक्षा है जिसमें तपाकर वह अपनी कन्याको विश्वमें छोड़ देनेके लिये प्रथम तपी बना देना चाहता है। तारके विचार-गाम्भीर्यको देखकर योग्य पिताने उसका भविष्य

वही तेज अवशेष किरन तेरी कुटियासे झाँक
भर देगी घर तेरी तारा तेरी धूलें फाँक।

(पंचम सर्ग)

के शब्दोंमें आया था। निर्धनताका जीवन उसने बिताया तो क्या, क्रान्ति और शान्तिका वह अमरदूत—

मैंने जीता है जीवन को हुई न मेरी हार

(दशम सर्ग)

की घोषणा करता है या

बेटी मैं कण-कणमें छिपकर, तुम्हें करूँगा प्यार।

(दशम सर्ग)

की पुकारमें एक साहसमय आशासे भरा संसार अपनी तारके सामने रख देता है जिसमें जी लेना, बस लेना उसे सरल और सरस लगेगा।

क्रान्तिका पालक धर्मदेव शान्तिजनक होकर अपनी जीवन-लीला समाप्त करता है। कथाके आधार-पृष्ठ देनेके बाद कहाँतक उसमें रस और मेधासे सम्बन्ध है यह भी मैं कुछ नहीं कह सकता। जंगलोंमें तरह-तरहके फूल खिलते हैं अपना-अपना अलग रूप और गंध लेकर। केवल उनका खिलना काम है। कैसा उनका रस और गंध है, उनके समीपसे गुज़रनेवाले बता

सकते हैं। फूल खिलता है इसलिये कि उसे खिलना है। यदि कोई उसे सुन्दर कह दे तो पता नहीं उसे कितनी प्रसन्नता होगी। यह काव्य भी एक ऐसा ही फूल है।

उपर्युक्त वक्तव्य सम्वत् १९९६ का है।

सम्वत् १९९१ से १९९६ तक पथपरके प्रकाशनकी भावना अपनेमें लेश मात्र भी नहीं रही। पं० गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश, दारागंजके सम्पर्कमें मैं १९९३ में आया और उसी वर्ष गोरखपुरमें श्री श्रीनारायण चतुर्वेदाके सभापतित्वमें आयोजित कवि-सम्मेलनमें गिरीशजीसे मेरी घनिष्ठता बढ़ी और उसके पश्चात् उन्होंने 'पथपर'का अवलोकन किया। 'रचना अच्छी है। यह अवश्य प्रकाशित होनी चाहिए' कहकर गिरीशजीने इसके प्रकाशित करानेकी भावना मुझमें उत्पन्न की। पं० शुकदेव चौबेके सम्पर्कमें होनेके कारण पं० लक्ष्मीनारायण मिश्रने, जो उन दिनों साहित्य सम्मेलनमें सम्पादक थे, इसे प्रकाशित करानेका आश्वासन दिया और पथपर सम्वत १९९८ से २००० तक उनके पास प्रयागमें पड़ा रहा। संयोग नहीं हुआ, पथपर पुनः मेरे पास आ गया और पड़ा रहा। अपने कार्योंमें व्यस्त होनेसे मैं प्रकाशनकी बात जैसे भूल-सा ही गया। सेठ इन्द्रचन्द्र केजरीवाल, कलकत्ताके सम्पर्कमें आनेसे कुछ ऐसी आशा रही, जैसा उन्होंने बताया कि पुस्तक उनके द्रव्यसे प्रकाशित हो जायगी। द्वितीय महायुद्धके दिन थे, महँगाईका युग था—यह धारणा, धारणा हो रह गई। सं० २००८ में श्रीयोगेन्द्रनाथ रायने 'पथपर' का प्रकाशन इंडियन प्रेस, प्रयागसे कराना चाहा और इंडियन प्रेसके व्यवस्थापकके पास 'पथपर' सं० २००८ से २०१० तक पड़ा रहा। हिन्दीके यशस्वी प्रकाशक साहित्यसेवी स्व० पटल बाबूकी इच्छा थी कि अनेक चित्रोंके साथ 'पथपर' सज-धजकर निकले। उनकी इच्छा उन्हींके साथ चली गई। उनके उत्तराधिकारियोंने 'पथपर' की पाण्डुलिपि उनकी दराजसे मेरी माँगपर खोज निकाली और 'पथपर' पुनः सं० २०११ में मेरे पास आ गया। 'लोक-सेवक' के संपादक श्री श्रीकृष्णराय 'हृदयेश', गाजीपुरने

इसका प्रकाशन अपने सहयोगसे 'लोक-सेवक' प्रेसमें करना चाहा और इस व्यवस्थाके पूर्व मेरे साथ-साथ उन्होंने 'पथपर'की पाण्डुलिपिका आद्योपान्त निकट अवलोकन भी किया। कहीं-कहीं शब्दोंके परिवर्तनका उनका सुझाव मुझे इतना सुन्दर लगा कि अक्षरशः स्वीकार कर लेनेमें मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। मैं प्रिय 'हृदयेश' जीका इसके लिये अत्यन्त आभारी हूँ। मुद्राभावके कारण गाजीपुरमें प्रकाशनकी व्यवस्था शिथिल पड़ गई।

आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी, प्रधान मंत्री, अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशीकी कृपा मुझपर ऐसी ही रही जैसी बड़े भाईकी छोटे भाईपर। उन्होंने 'पथपर'को देखा और पूछा—'अबतक कहाँ पड़े रहे ? ये सब चीजें छिपानेके लिये हैं ? शीघ्र पाण्डुलिपि भेजो। इसका प्रकाशन काशीसे होगा।' इस प्रकार बहुत दिनोंकी प्रकाशनकी कठिनाइयोंको झटकेसे समाप्त कर आचार्यजीने पथपरको हिन्दी संसारके समक्ष ही नहीं रक्खा किन्तु इसके प्रकाशनका सारा भार अपने ऊपर ले लिया। अपनी रुग्णावस्थामें 'पथपर' का प्रूफ देखकर जो अटूटता आचार्यप्रवरने मेरे ऊपर की वह मेरे लिये कुछ कम गौरवकी बात नहीं। मैं उनकी इस कृपाके लिये चिर ऋणी हूँ।

गाँधीनगर गाजीपुर
गंगा दशहरा—सम्वत्, २०११

तारकेश्वर उपाध्याय एम्.ए., बी.टी.
आचार्य, जनता-जनार्दन इण्टर कालेज,
गाँधीनगर, गाजीपुर।

स्थान-परिचय

चन्दनपुर	:	एक गाँव
मगई	:	एक नदी

पात्र-परिचय

धर्मदेव	:	वृद्ध
तारा	:	धर्मदेवकी पुत्री
सुबोध	:	धर्मदेवका पुत्र
प्रेम	:	सुबोधका दूसरा नाम
उषा	:	धर्मदेवकी पत्नी
प्रेमा	:	सुबोधको पालनेवाली
प्रकाश	:	प्रेमाके पति
धनपति	:	एक जमींदार
गहँगू टहलू	:	गाँवके दो जन
श्याम	:	टहलूका पुत्र
मनोहर	:	श्यामका मित्र

प्रथम सर्ग

यों ही पथपर चले गये सब; छाया गई समान—
संध्यासे पहिले ही सबकी; वह सुखका मधु मान
माया बनकर लिये हुए था जो स्वर्गिक आनन्द
गया कभीका; सोनेवाले गुप्त गुहामें बन्द

हुए; थका सब और—प्रेतकीर्तनसे नर रूपाभ
गिरा किसी पथके तटपर मुझ-सा, न रहा कुछ लाभ।
सदा चढ़े जायेंगे शिरपर कितने ही पद और,
और उतर जायेंगे प्रियवर कितने ही सिर-मौर।

तनुज गये कितने ही तनके तन फिर गये समूल—
इस गतिमें मैं गया अरे क्यों अपनी हा गति भूल!
और स्वप्नमें इधर अचानक मैं क्यो उठा पुकार—
'अपनेमें जीवन क्या है? क्या है जीवनमें सार?'

जब जाना है अरे! न जाने क्यों जीनेकी चाह!
अभी नापता ही जाता हूँ, यदपि न मिलती थाह।
इधर-उधर पानी, नीचे भी पानीका है जाल;
तनका पानी सूख चला, पानी बन तन तत्काल

पानीसे मिलने जाता तजकर लाखोंमें आह !
फिर भी अरे न मिट पाई पानी रखनेकी चाह !
थाह लगा लूँ, और बता दूँ—जगको, पाई थाह;
क्या जानूँ ? वह राह मिली जिसपर खोता हूँ राह !

तृणपर रखकर चरण कहा, 'मैं हूँ मानव-संजात;
मुझसे ही कोमलता पाता जलका वह जलजात ।
दुखका नाम मिटा दूँ, जग पा जाये नव सम्मान;
देखूँ, आज कौन नर करता—नरका ही अपमान ।'

पर अपनेमें भूल गया—संतापित तृणकी बात;
मेरे पगकी धूल फाँक दबकर कितने दिन-रात
तिनका होकर प्राण खींच पंजर से, हृदय-मलीन
तज अपना परिवार गया तृण, मैंने कुछ सुधि की न ।

बूँद-बूँदको जोड़-जोड़ सागर कर डाला और
तोड़-तोड़ पर्वत कंकड़, बन-बनकर बनका भौंर
मँडराया कलि-कलिपर निर्भय चूस-चूस दी छोड़;
मृदु परिणीता सरोजिनीके अंकमसे मुँह मोड़

बढ़ा जा रहा मैं, पथका इस पार और उस पार—
यह अन्तर मैं क्या जानूँ, जानूँ अपना संसार ।
कूद चढ़ गया नभके बादलपर भूतलको भूल,
जलके इस काले उपवनमें नखत समझकर फूल ।

क्या पाया क्या खोया पलमें हार मिली या जीत—
यह मैं क्या जानूँ, जानूँ केवल मैं अपनी जीत ।
पवन बना; पाषाण बना; पानी बन गया; समीर
धीर तीरका बना; बना मैं कल कुञ्जोंका कीर;

श्यामल कोकिल मतवाली डालीपर बना; कुरंग
बना; बना मैं अंग-अंगमें लेकर नवल अनंग;
निशा-अंकमें मैं मयंक। विस्मृतिका नव परिधान
पहन-पहनकर सुधा लुटाई। लूटा निशका मान।

बनकर मैं उद्दंड पवन प्रभुतामय नव तूफान,
सागरकी लहरोंका गर्जन बनकर सदय महान्
जीत रहा था मैं जीवन, देखी सुमनोंकी हार;
समझा मनकी जीती बाजी है मनकी ही हार।

जिसको कहते प्रगति, नहीं क्या वह थिरताका रूप ?
जिसको थिरता हैं कहते क्या वह न प्रगतिका रूप ?
जब इन मेरी मंजु भावनाओंमें कलुषित अर्थ
पा सकता है जग, प्रसन्न रखना है उसको व्यर्थ।

कहूँ किसे मैं अपराधी—मैं करूँ कहाँपर न्याय ?
जब यह सब करना मेरा कहलाता है अन्याय।
यदि मेरे सुखसे आशंकित हो जाता है अन्य,
क्यों न कहें बनकर निरीह-से हम दोनों हैं धन्य ?

क्योंकि नियति जब महाशक्ति-सी नव-रचना निर्माण
करती जाती है पग-पगपर दुख हो या कल्याण,
कौन व्यथा आयेगी, कब आयेगा नन्दन—राज,
कौन कहाँपर कब कैसा बन जायेगा न समाज।

इस 'कब'में मैं देख रहा हूँ एक अनिश्चित काल
जिसका निश्चित अन्तराल जैसे हो मधुर मराल।
सुगम मार्गका यही अगम 'अथ' यही नाशका प्राण
यही प्राणका अन्त और है यही अन्तका त्राण।

'कब'की मिली कसौटी किसको किसको 'कब'का ज्ञान
'कब'को ही हो सकती है जाने कबकी पहचान।
आदि अन्तसे हीन समय ! पल-पल तेरा साहित्य;
शक्ति नाचती रहती क्षण-क्षण इन घड़ियोंमें नित्य

बनता रहता सदा अलौकिक जगका रम्य विधान।
तू परमेश्वर समय ! सदा; केवल तू एक महान्;
तू तुलसीका बिना करोंका श्रवण-रहित भगवान्;
तुझे जानकर सब जन फिर हो जाते हैं अनजान।

करते और प्रकाशित जगके जीवनमें अपनत्व,
अपनेमें गुरुता लाते हैं जिसको कहते तत्त्व।
बनता एक विदेह, दूसरा सन्तति और कुमार,
सौम्य प्रकृतिके कण-कण जिसकी करते नित्य पुकार

तू अपंगको दिखलाता है वन-गिरि-सरित अगम्य,
तू परिवर्त्तित करता पलमें धरतीका तल रम्य।
समय ! न तेरी गतिका होता कोई निश्चित ढंग
कर न सका कोई विधान तेरी मादकता भंग।

तू अनादि, अक्षर, अरूप है हम सब तेरे अंग
तू अलभ्य हे समय ! रहा करता पर सबके संग।
तू जीवन-वरदायक, गायक सुख-दुखका अविराम,
तेरी वाणीमें संचित है शान्ति और संग्राम।

जब सब कुछ करता है तू हे समय ! खोल दे द्वार,
हो जाये प्रतिबिम्बित इस थल जो कुछ है उस पार।
मैं कहता हूँ मैं क्या हूँ, सब कहते अपनी बात,
अपनेको बतलानेमें होते कितने उत्पात।

बढ़ जाता है एक, अन्यका पथ लेता है छीन,
गिरिपर चढ़कर कहता है मैं धनी और वह दीन।
एक देश लेकर विदेश कहता है, 'मैं बलवान्।'
अत्याचारोंके बलपर पाता है वह सम्मान।

मेघनाद कर दिखलाता है वह नित अपना ढंग,
अंग-अंगमें लेकर नित नव—नव पशुताका रंग।
'क्या जानो तुम ?' कहूँ किसीसे हो जाते हैं लाल
नयन-पलक उन्मीलित पलमें भौहें और कराल;

सुननेवाला नाक फुलाकर फर-फरकर निज होंठ
कुसुमित आननपर मसि लाकर बन जाता है सोंठ;
और गगनके शब्द खोजकर करता है हुँकार
मैं खण्डित हो जाता, चलता उसका वचन-कुठार।

पर घड़ियो ! तुम मौन घाटियोंमें जाती किस ओर ?
बनके प्राणी बोल रहे हैं, तुम न मचातीं शोर।
भावी पति अपने शैशवकी गली-गलीमें घूम
अलकोंको सुलझा-उलझाकर नित-नित नव-नव धूम

विहँस-विहँसकर मचा रहा है; वह शिशु मधुकर झूम-
झूम कलीके पास जा रहा अनजानेमें चूम-
चूम चला आता, होता है पर न उसे कुछ ज्ञान
'बननेवाली है जीवनकी वह सहचरी महान्'।

खग-दम्पति-मायाको भावी-पति कहता है खेल;
क्या जाने जीवनका जीवनसे होता है मेल।
और कहींपर भावी पत्नी प्रिय गुड़ियोंका ब्याह
रचकर भरती है उसमें रसमय अपना उत्साह।

समय ! उसे पर ज्ञान हुआ कब क्या होता संयोग;
मरण और जीवन लेकर है आता कभी वियोग।
क्या जाने कोकिल गाता है अनुरागोंके राग,
क्या जाने कुररीके उरमें क्या करती है आग।

'कल क्या होगा ?' यही पहेली बूझ सका है कौन ?
द्वार-द्वार मैं पूछ रहा हूँ पर घड़ियो ! तुम मौन।
हो जातीं हैं विलग एक ही जनकी दो सन्तान;
मिलती हैं फिर एक नया जग लेकर, पर अनजान

सदा बना रहता है उनके शैशवका इतिहास
कभी न बुझ पाती है उनके कुल-शोणितकी प्यास
भाई-बहन साथ रहते हैं, वह भ्रातृत्व अनूप
भगिनिभाव दोनों हिलते-मिलते बन गये सरूप;

पर न ज्ञात है एक-दूसरेको अपना अस्तित्व,
नहीं जानते दोनोंका है एक मधुर मातृत्व।
एक खेतमें जमे बीज दो एक वंशके, एक
रंग-रूपके, एक कलाके लेकर राग अनेक,

एक मधुरता ममता समता, पर जीवन-थल रम्य
दोनोंका बन गया विषम जीवन हो गया अगम्य
कण्टक-मय पथपर चलकर मिलती है कभी सुराह;
मंजु मिलनमें बदल कभी जाती यौवनकी आह।

सुखकी आशामें भी आता है विपत्तिका भूत;
दुखके काम किये जाते हैं होता सौख्य प्रसूत।
सर्वशक्तिमत् समय ! तुझे कहते हैं कोई काल।
बन जाता है सिंह तुझे छूकर अति सौम्य मराल।

महाकालकी छायामें बस गया जगत् चुपचाप,
वन्य जन्तु-से पग समेट बस गये शान्ति-सन्ताप।
जानूँ या जानूँ न कभी कब कहाँ कौन-सी चोट
कर देगी जाने किसको वह किस तिनकेकी ओट।

फिर कवि रोता देख न रोये रोये पा संसार,
कविका हँसना देख उठे या उठे न उरमें प्यार;
पर वह लेता है पतंगकी प्यार-पीर पहचान,
और स्वयं घायल होता जो लगे क्रौंचको बान।

वह लगता है प्रलय-मेघमें नभके करुणके हाथ
फिर बहता है बड़ी बाढ़में वह उस तृणके साथ।
और नाच उठता है वह पनघटपर छविको देख,
वह होता है मौन दुखीकी देख भाग्यकी रेख।

वह तारोंमें भी पाता है जगके व्रणका रूप
महा अपावन धरतीके तृणचरमें देव-स्वरूप।
कवि! गाना है आज कण्टकोंमें फूलोंका गान,
फिर फूलोंमें भी सुननी है कुछ काँटोंकी तान।

पाना है लघुता में ही तुमको ऊँचा आदर्श;
इस महत्त्वमें भी करना है लघुताका संस्पर्श।
दिखलाना है तुम्हें निर्बलोंमें भी अनुपम शक्ति,
बतला देना है जगको नीचोंमें भी है भक्ति।

कर देना है रवि-शशिकी आँखोंसे सब जग एक,
तर करना है सरस वायुसे फिर द्रुम-दल प्रत्येक।
कवि, तुम होकर निडर बढ़ो, खोजो ममताकी राह,
भर दो मानवकी रग-रगमें समताका उत्साह।

तुम महान् कल्पना-सहित करते तुम काम महान्,
क्या-क्या कर सकते हो तुम है मुझे न इसका ज्ञान।
मेरा प्रिय नन्दन वन तो बनता है गहन महान्,
जाता था किस मगसे मुझको कुछ न रही पहचान।

कहाँ मुझे जाना है कुछ भी कह न सकूँगा और,
एक कहानी ही कहनी है, कहूँ उसे क्या और।
मानवताका अयश कहूँ ? अपयश लूँ युगका मान ?
या विनाशके हित कुण्ठित मानूँ यह तीर - कमान ?

पशुताकी पहचान कहूँ या कहूँ रुदनका गीत ?
राक्षसत्वका राज्य कहूँ या कहूँ दैवबल भीत ?
इसे अश्रुकी जीत कहूँ, या कहूँ हास्यकी हार ?
मिटता-सा वह मान कहूँ, या बनता-सा यह प्यार ?

प्रलय कहूँ या उषःकालकी सुन्दरताकी थाह ?
शुभ्र ज्योत्स्नामें अथवा निःसार पयोद-प्रवाह ?
नयन-नीर या रंक-राज अथवा दीनोंकी चाह ?
विकल व्यथितकी पीर कहूँ या 'दुखी हृदयकी आह'।

सन्ध्या थी हो रही, चला जाता था घरकी ओर;
मिला पथिक पथमें जिसका क्रन्दन था आत्म-विभोर।
ढली हुई थी देह, हुए थे सारे उज्ज्वल बाल;
उभय नयन थे छिपे हुए यह देख अलौकिक हाल।

कटिपर कोण, भुजापर कम्पन, रेखाओंका व्यूह,
रग-रगके बन्धनमें बँधता जाता अस्थि-समूह।
पग-पग उसके रोम-रोमसे जरा रही थी झाँक,
तन परिवर्त्तित हुआ धूलमें पथकी धूलें फाँक।

परिवर्त्तित हो गया सूर्य या बदल गई है रात,
आँखोंकी दुनियामें यह सब उसे न होता ज्ञात।
कैसे टूसोंसे कढ़ते हैं किसलय पीले लाल,
और हरे होते हैं कैसे, अब होते न निहाल

नयन देखकर यह सब। पहलेका देखा संसार
स्मृतिमें नया न हो पाता। उलझे थे स्वरके तार;
विकृत रागिनीका सरगम-पथ वह स्थायीकी चाल।
पाता अब अन्तरा नहीं था और न गोटी लाल।

अन्धा था, अन्धी दुनियामें गति थी जिसकी अन्ध,
अन्ध मार्गपर वह जाता था ले कंकाल-कबन्ध।
फटे-पुराने वस्त्र, रज्जु था, और हाथमें पात्र,
यह था उसका विभव, विश्वका वैभव जीवन मात्र।

कुछ तन्दूल था बँधा हुआ उसकी चादरके कूल
सूखी हुई वाटिकाका था बचा हुआ यह फूल।
प्रेम, प्रीति, सुस्नेह सभी थे लुप्तप्राय, वात्सल्य
झलक रहा आँसूमें उसका यह था सुख कैवल्य

जीवन - समर कठिन था उसको थीं पर दो सन्तान;
तेरा निर्मम हृदय कहें या कृपा कहें भगवान्!
निर्धनतामें है जीना अपना जिसको जंजाल,
नियति-चक्र लेकर बढ़ता है जिसपर तन विकराल;

जिसकी कहीं न पूछ न है जिसका कोई आवास,
खोई निधि है बची हुई अब केवल जिसके पास,
मिल जाता है कई दिनोंपर जिसको सत्तू-साग,
और भागना चाह रहा जो तजकर जगका राग,

उसके लिये रचा जाता है यह मायाका जाल;
आ जाते हैं बन वैभव उसके सुन्दर दो लाल।
निर्जल जलाशयोंके जलकी ये दो बूँदें ब्याज
बची हुई हैं, लादेंगी कब वह पावसका राज,

यही सोच निर्धन जीवनमें पाता है संतोष,
ये उसकी सन्तान भरेगी बढ़कर उसका कोष।
यों तो शिशु थे दर्शनीय पर बाल्यकालकी मूर्त्ति
आर्त्तनादसे दबी हुई थी देख करुणाकी पूर्त्ति।

विद्या थी, थी बुद्धि, आत्मबल था अपनेका ज्ञान,
यह क्या मिला न जो जग-वैभव मिला न जग-सम्मान।
छाती गड़ी हुई थी नीचे, उठा हुआ था पेट,
कोमल सरस कपोल कर रहे थे आपसमें भेंट।

पतल-पतली और पसलियाँ गिन जातीं तत्काल
बड़े-बड़े कानोंकी सीमातक था ऊँचा भाल।
आँखें थीं धँस गईं और सारस-सी पतली टाँग,
थाह-थाह चलती थीं, सिरमें नहीं फटी थी माँग।

उबटन था न लगा तनपर, था लगा न तनपर तेल,
मैली-मैली लगी लँगोटी तनसे, तनसे मेल
मैल किये बैठी थी, उठता था रग-रगसे प्यार,
भोला-भाला और भला-सा यह छोटा संसार।

यह छोटा परिवार ! बिना घरका !! निर्धनकी बात!!
फिरते थे बस एक कहानी ही लेकर दिन-रात।
सुत बोला, "हे जनक ! न दोगे, हमें कृपाका दान ?
सूख रहा है अन्तस्तल, आ चला कण्ठमें प्रान।

मेरे लिये नहीं रक्खा क्या खाद्य तुम्हारे पास ?
अथवा मेरी दशा देखकर होते आप निराश ?
एक चना फूटा भी पाकर कर लूँगा सन्तोष,
आत्म-पारणा हो जायेगी, होगा अतुल सु-तोष ।

मैं हूँ पिता ! सनाथ तुम्हारा क्या खोया है प्यार ?
पत्थर हृदय हुआ जाता है देख क्लेश ? या सार
रहा तुम्हारे पास न कुछ भी जो मैं खाऊँ आज ।
मैं करता उपवास हाय ! आ रही न तुमको लाज ।

मुझे दिखा दो खूँट इसीसे बुझ जायेगी भूख ।
प्यारे प्राण सुलभ हों या जावेगा जीवन सूख ।"
चादर खिसक रही थी, उसको रोक रहा था वृद्ध ।
हाथ बढ़ाया जब उसने बालकने समझा — सिद्ध

हुआ कार्य, बस स्वर्ग मिला, अब खोलेंगे ये खूँट ।
मिला अन्न यह, अब न जायगा भाग्य हमारा फूट ।
हृदय-उदधिमें लहराई जब आशामय जलधार,
कम्पन हुआ पवनमें पलमें उठे अमित उद्गार ।

खौल उठा वारिधि, धाराएँ विमुख हुईं तत्काल;
बोल उठी बाला, "मत बोलो, बोल चुके बस बाल !"
आँखोंमें भर दैन्य-भाव अधरोंपर धर उत्साह
स्वरमें ले अधिकार सुताने कहा पितासे, "आह !

इसे दिया था कल तुमने, अब आज हमारा अंश ।
अपनी ज्येष्ठ कन्यकाके प्रति करो न नीति - भ्रंश ।
कभी नहीं लेने दूँगी मैं प्रथम इसे कुछ आज,
पहलेसे ही सोच धरा था मैंने यह सब साज ।"

आभा देख पड़ी आननकी परिणत होती; शान्ति
झलक पड़ी उस थलमें पलमें जहाँ रमी थी क्रान्ति।
जितना ही इठलाई थी उतनी ही होकर शान्त
बनती गई विनम्र; कहा, "हे पिता ! रही मैं भ्रान्त;

टाल न सकती सुत-प्रति सम्भव सहज तुम्हारा प्यार।
अच्छा पिता ! उसे ही दे दो ; मेरा क्या अधिकार ?
बनी अभागिन हूँ, विधिने रच मुझे सुता, कर दीन
लादा दुखका बोझ, और ले ली स्वतन्त्रता छीन।

आँखें हैं पर देख रही हूँ नहीं सामने राह,
आ जाना संसार बीच है मेरा अमित उछाह।
मानवता पशुता बन मुझपर करती अत्याचार,
मेरे उरमें आग धधकती, आनन्दित संसार

हे जीवन - संगीत ! हो रहा है अब अनुभव लेश,
अभिलाषाएँ दबी हुई हैं; मेरा शून्य स्वदेश।
मैं मानव हूँ; प्रकृतिजन्य पाने दो सब अधिकार।
अब न और रहने दो मानवतामें दो संसार।

एक वायु, जल एक, एक कण और एक आकाश,
उद्गम स्थल है एक एक-सा होता और विकास।
अभिलाषाएँ एक, मोह-ममता की वाणी एक,
सुख - दुखका संसार एक, रस एक और रुचि एक,

नरका वैभव एक और नारीका वैभव एक,
एक - एकसे बना हुआ है; एक - एक है एक।
मैं भोगूँ यातना, लोग कहते हैं मेरा काम;
लाख दण्डके काम करें सुत, पर वे नित निष्काम।

खेलें एक लहरसे हिलमिल है यह उनका धर्म,
पर उससे यदि मैं खेलूँ तो यह मेरा दुष्कर्म।
बरस पड़ें घन टूट - टूट पावसका कुछ न विनाश,
पर क्या मेरे सुख-वारिदका होगा सौम्य विकाश।"

लहरोंने ले लिया मौन - व्रत सागर हुआ प्रशान्त,
और सुताके स्वर बदले कुछ हो-होकर अति क्लान्त—
"मैंने की धृष्टता पिता ! जो कही समयकी बात;
सुयश बढ़े, सुख मिले, बड़ा होवे भाई दिन-रात।

जी जाऊँ तो बना रहे मेरे मनमें यह भाव—
जीवन देकर प्राण बचा लूँ भाईके भर चाव।
क्षमा करो हे पिता ! समझ यह मेरा बाल - विचार;
नहीं क्षुधा - पीड़ित है करता क्या - क्या अत्याचार ?

मेरे लिये तुम्हारी करुणा विश्व - विभव धन-धाम,
हँसते हुए खिलाते हो यह ही क्या कम अभिमान।
दे दो भाईको जो कुछ है, सह न सकेगा पीर;
छोटा है, कोमलतर इसका कृशतर हुआ शरीर।"

सूखा अधर, गिरी भूपर, फिर कह न सकी कुछ और;
प्रेम - लकीरें देख पड़ीं उस करुणा - रसके ठौर।
शिथिल हुआ बूढ़ा पत्थर - सा, पड़े रहे वे बाल,
जगके सुखी प्राण सब चौंके हुए एक तत्काल

उन दुखिया प्राणोंसे पलभर अलग रहा था कौन ?
जहाँ स्तब्धता आ छाई थी, वृद्ध स्वयं था मौन।
मौन बनी थी संध्या, रवि पश्चिमको जाता मौन,
मौन बाल-बालिका, पवन वह मौन, विश्व था मौन।

रोक ली गयी थी सरिता थी प्रबल वृद्धकी भीति,
किन्तु टूट ही गई, बही जब धार प्रेमकी रीति।
निकल पड़े आँसू झरसे, हो गये खड़े सब रोम,
आह - आह शब्दोंमें सारा गूँज उठा तब व्योम।

बोला, "मेरे हृदय, ! करूँ कैसे तेरा सन्तोष ?
पिता पुत्रको देख रहा मरते किसका यह रोष।
यह मेरी बालिका हाय थी गिरी नखत - सी टूट;
जाने मेरे इन लालोंपर मची हुई क्यों लूट ?

तनके वन्दी हृदय ! न जाओ तुम असमयमें छूट;
गिरो न भूतलपर व्याकुल हो। दो टुकड़ोंमें टूट।
ये कलियाँ है अभी वायु ! तुम इन्हें न दो झकझोर;
फैलानी है इन्हें गन्ध उपवनमें चारों ओर।

अभी - अभी खोया है मैंने एक मधुर संसार,
आशाएँ लेकर जीता हूँ, पड़े न दैव ! तुषार।
देख रहा हूँ इन रत्नोंमें वह स्वप्नोंका प्रान्त,
धीरे - धीरे हो जाता है जहाँ व्यथित मन शान्त।

पर यह अभिनय एक आज देखा जा रहा नवीन,
मेरे मनकी सुख - छायाको बरबस लेना छीन—
बन छलनी - सी मनोवृत्तियाँ मानवकी सुकुमार
अन्तरतमकी करुण - कथाकी लेकर आत्म - पुकार

मानस-निधिकी लोल लहर-सी खोज रही थीं शान्ति
जीवन-तटपर ठुकराकर फिर चलीं आज बन भ्रान्ति
उस प्रदेशको, उसी राहसे मदिर वेदना - व्यस्त;
जन्म हुआ था जहाँ, वहीं हो रहीं सभी वे अस्त।

कभी न कर फैलाना जाना कैसे माँगूँ भीख,
जहाँ - जहाँ जाता हूँ मैं देते सब जन यह सीख—
'उत्तम है खेती सबसे उससे मध्यम है बान।
इससे भी है हीन चाकरी सबसे भीख निदान।'

भूखों मरना ठीक, न जाओ पर तुम परके द्वार
कुछ भी हो पर लाज छोड़कर करो न गौरव - हार
हुई जीविका है तुम सबकी भीख माँगना आज,
सम्पत्तिसे भर दिया भवन है और आ रहा व्याज।

अंधा हूँ, मैं निर्वासित हूँ, रही न अपनी शक्ति,
किसे ज्ञात है यह सब अपने में कितनी है भक्ति।
फैलाकर मैं हाथ चला जाता हूँ जिसके द्वार,
क्या जाने वह उसी जातिसे मुझपर अत्याचार

किया गया है, दिया गया है मुझको जगका खेद।
वह लूटे, मैं माँगूँ, हम दोनोंमें है क्या भेद?
माँग रहा हूँ अपना धन तो क्या इसमें है पाप?
लेकर जो दानी बनना है तो फिर क्यों संताप?

लूट बन्द हो फिर हो जाये आज माँगना बन्द।
क्यों देखे परद्वार मिले जो निज घरमें आनन्द।
कहाँ हमारे प्राण! उठो आओ मेरी संतान!
मुँह जब चीरा गया कहींसे कुछ देंगे भगवान्।

यह कच्चा चावल है; पा जाऊँ थोड़ा-सा नीर,
और आग मिल जाय कहीं यदि इसी डगरके तीर,
लेकर मगपर पड़े पेड़की टहनी, कइन, हरेठ
फेंक चुका है जिनको परहित कबका प्यारा जेठ,

ढेलोंका चूल्हा रचकर रचकर पत्तोंके पात्र,
इस लुटियामें सिद्ध करूँगा यह तन्दुल क्षण-मात्र।
नमक मिला दूँगा प्रियतर कुछ माँड़ और कुछ भात
खा लेना मेरे जग ! देखो आती काली रात।"

संध्या और उषा-सी पलमें बढ़ी वृद्धकी बाँह,
निशा और दिनको पानेके लिये लगाई थाह।
सिर कुछ उन्नत किये किये कुछ उन्नत स्वरका भार
दो डग, दो पग चलकर बोला, "आजा मेरे प्यार !

आजा मेरे नयन !! देखता कबसे तेरी बाट;
घड़ियोंसे है खुला हुआ यह मेरा हृदय-कपाट।
आ मेरी सम्पत्ति ! चली आ, मेरी प्राण-मरीचि !
आ मेरी विस्मृति-सागरकी मधुर-मधुर-सी वीचि।

मेरे नभके नखत, तुम्हें लूँ अन्तरतममें खींच,
अंकोंमें रखकर आँसू शान्त करूँगा सींच।"
इस प्रकार रोते सत्वर ले चला वृद्ध सन्तान
राह दिखाते जाते आगे पीछे कविके प्रान।

द्वितीय सर्ग

चलो पथिक उस ओर जिधर जाते हैं जन दो - चार।
बिगड़ गया है पलमें जिनके जीवनका व्यापार।
निकला था रवि जिस लालीमें उस लालीके बीच।
उन्मन गया कहीं वह, आई निशा असित पट खींच।

कर विस्तृत परिधान कालिमाका बन जीवन मूल।
दिखा रही है रात सिसककर रिक्त हृदयका शूल॥
दीन जनोंकी कृपा दीनपर हो आती उन्माद;
हृदय निकल जाता आँसूसे; बन विषाद आह्लाद

लाता है वेदना मधुर प्रांगणमें सुखके, साध
धन देनेकी रह जाती केवल देनेकी साध।
चन्द्र - हीन निशिने दिखलाई समवेदना ससोम
क्या वह दे सकती है जब है स्वयं बनी तमतोम ?

मग है—पड़ा हुआ खोले वक्षस्थल; पथके जीव
पड़े शान्त हैं उनके दुखमें जैसे दुखी अतीव।
खोले है आकाश भवन तारावलियोंके साथ;
तरु लेकर पाथेय खड़े हैं अपने - अपने हाथ।

प्रकृति सजाती है पथिकोंके स्वागतका सामान;
सुभग कामना विहग मनाते नीड़ोंमें धर ध्यान।
अंधकारके रंगमंचपर यह अंधा संसार
देख रहा है जीवन - धनका यह अद्भुत व्यापार।

अरे करुण, मद-मत्त विश्व ! दे खोल हृदय, दे खोल !!
दुखी जनोंका भी होता है कुछ तो जगमें मोल।
नहीं जानते तेरे मखमलके जूनोंके बीच
दबा हुआ है हृदय किसीका, अरे चरण ले खींच।

रोम - रोममें छा'ई जिसके मर मिटनेकी चाह
उसकी वृथा न जायेगी जग ! कभी एक भी आह।
ले बैठेगी राज्य - विभवमें तेरा संचित कोष;
तुझको तो खानेवाला है तेरा ही यह रोष।

अबला - दीन-नयन - जलसे जो निकलेगी अति आग
उसकी अनियंत्रित ज्वालामें तेरा यह सब राग
जला करेगा; स्वयं राख तू अपनी ही है, चेत,
सदा चमचमाती न कभी है दोपहरीकी रेत।

अपने वैभवपर फूले परकी जगती कर दूर
अपने घरमें बनकर बैठे अपने घरके सूर।
दीन जनोंके खड़े रोमसे लगता है कुछ हाथ ?
मुसकाहट तेरे अधरोंपर किस प्रतिमाके साथ ?

किसपर है यह गर्व ? गये हो अब तुम किसपर फूल ?
गजको भी सर कर देती है लघु कणवाली धूल।
नभकी लाली ओढ़ सुमन ! करते प्रतिदिन शृंगार,
किन्तु मधुरिमा-मय डालीमें क्यों जाते हो हार ?

देख रहा हूँ हे पतंग ! उड़कर जाते नभ - बीच
और कहींपर गिरकर फिर तुम हो जाते हो नीच ।
दिनकर निज करके तानेमें दिनका जाला तान
लुक - छिप खेला खेल; चला देखो पर-प्रभुता मान ।

यह प्रतीचिसे चलकर नित प्राचीसे नव साम्राज्य
निशानाथ लेकर आता है सुख-सौन्दर्य अत्याज्य ।
नहीं उड़ाती चन्द्रगुप्तकी प्रभुता अपनी धूल;
धाक शिवाजीकी न खिलाती मनोलतामें फूल ।

किन्तु कल्पना कालिदासकी डाल प्रभाकी डोर
झुला रही आक्रान्त मार्गसे जग अनन्तकी ओर ।
मानसकी मधुमय लहरीमें जग - भावोंको तोल
चित्रकार तुलसी चित्रित करता प्रकाश - पट खोल ।

मिट्टीका तन गया, रहे पर ये दो - एक प्रकाश
करते हैं जो बहुतोंके जीवनके तमका नाश ।
चढ़ो-चढ़ो आँखें जग ! अपनी क्यों न कर रहा शान्त ?
चन्दन - रससे भरे हुए हैं ये अक्षरके प्रान्त ।

सीख इन्हींसे प्यार और कुछ दीनोंका संसार
देख इन्हींमें, लिए खड़े हैं ये कैसे उपहार ।
पशुताका बल, बला समझ, लूटना समझ अपकार,
प्रबल प्रकृति निर्बल बनकर कैसा करती उपकार ।

खो देता है परहित - साधनमें घन अपना रूप,
व्यथापूर्ण मनसे फिर करता सीमा-स्पर्श — स्वरूप ।
गिरि गौरवमय कनकसे बढ़ा हिमका संचित राग
दे-दे सदा सरित-जल भरता । सरसिज - सुमन पराग

हाथ खोलकर क्या न लुटाता अपनी निधि ? कुछ सोच !
क्या पायेगा जगके प्राणी ! पर धन-धान्य दबोच ?
फूला है किस मदमें लेकर कौन अपर-सी शक्ति ?
किस विरक्तिके लिये विश्व ! खोता है जन-अनुरक्ति ?

पा न सका है कोई निधि सोए स्वप्नोंमें देख,
मिटा सकी है नहीं कल्पना कभी भाग्यकी रेख।
निर्बल उरके साथ सबल भावोंका अत्याचार
बेहोशीकी पागल लहरोंमें कर हाहाकार

भावोंकी सुकुमार सृष्टि जब बल खाती बन खोन
सर्वनाशका लीला-मंदिर रच देता है दीनं।
कितनी सुन्दर कितनी प्रिय है वह जगकी अनुभूति
पीड़ाओंमें मिलकर फिर जो बनती प्रेम-प्रसूति ?

कौन न गायेगा अपमानित क्षणका गौरव गान ?
जिसमें निष्ठुरताओंका होता है पूरा भान।
पथिक ! अभावोंसे प्रतिपादित तेरा वह अज्ञात
कौन छीन मुझको दे देगा करुणापूर्ण प्रभात।

जीवित बालामय स्मृतियोंका चिर-परिचित एकान्त
ग्लानि-घृणाकी दारुण चोटोंसे आपूरित प्रान्त
दुखके परदेमें छिपकर बनता है वैभव-स्थान,—
अमर-भूमि है दे दे राही ! मेरी ममता मान।

जर्जर तनकी छायामें जा रहे युगल कृश-गात;
कर देता पथभ्रष्ट उन्हें रह-रहकर निष्ठुर बात।
किन्तु सुखी क्या रह सकता है कर वह अत्याचार ?
देखो रहा कराह, पड़ा उसपर हू-हूका भार।

पेड़ोंसे गिरता है थलपर थल देता है फेंक
इधर - उधर जाता है उसका टूट अंग प्रत्येक।
सोता सारा विश्व घरोंमें, और पथिक ये तीन
कहाँ चले जाते हैं ? जाने कौन ? किधर हैं लीन ?

खग सोते हैं, वन सोता है, किन्तु पथिककी हूक
चलने लगी बोलता जैसे तरुपर कोकिल कूक,
"शैशवके मधुऋतु में बनकर मलय - अनिलके बाण
हे विधि ! अन्तर्हित करते क्यों तुम नव-किसलय-प्राण ?

मुकुलित हो कलिका, विकीर्णकर पंखुड़ियोंका रूप,
निपट मस्त हो लेट रही थी खोले सौम्य स्वरूप,
किन्तु उसे रजमय शय्यापर देते हतविधि ! छोड़,
वायु होड़में उसे डाल क्यों देता कृश तन तोड़ ?

तरु - डालीके कटु कम्पनसे गिर किसलय नभ - बीच
प्रलय - वायुसे कम्पित होकर खोकर ममता; खींच,
रग - रंगका तरु - प्यार नसोंमें लेकर जीवन - ज्ञान
और हृदयमें सुचिर विलगताका लेकर अपमान

पुनर्मिलन - रस - सिक्त सरस जीवनकी आशा छोड़
चू पड़ता है, रोक उसे हरि ! क्यों न दिया फिर जोड़ ?
निर्वासित गिरि - जल - प्रपात ले सरित सुगम पथ-रूप
प्रतिहत - वैभव सर - सरसिज-सीकर-सी शान्ति अनूप

ले प्रतिपल प्रतिकरसे मिल कह दुखी हृदयकी आह
जगमें जगसे छिपकर चलता लेकर मन्द प्रवाह।
किसलयकी, कलिकी, प्रपातकी, नरकी, सबकी बात
एक सदृश होती सन्तत चाहे दिन हो या रात।"

इन्हीं कल्पनाओंमें रचकर सुन्दर प्रिय नवनीत,
हत भावोंके घावोंपर लेपा उसने स - प्रीत।
नर जब जीवनसे निराश हो जगसे हो विपरीत
गली - गली ठोकर खाता है ले करुणाके गीत,

हँसते हुए सुमनमें पाता है जीवनकी आह;
कुशल विधायककी भूलोंमें लेता अपनी राह।
अपने प्रिय अतीतसे कृश तन वर्त्तमानका चित्र
खींच रहा था हिले अधरपर यह थी कला विचित्र।

अपने शैशवकी गरिमासे सुत - शैशवका मेल
मिला हँसीमें खेल रहा था रोनेका ही खेल।
इतनेमें ही गिरा बाल, बालिका हुई अवसन्न;
और प्रलयका चित्र खिंच गया सुत न कह सका 'अन्न'।

नखत - नयनको मूँद निशाने देखा कल्प - विधान
पर - दुखके चिन्तनसे अन्तर बना और दुख - खान,
और बनीं तम-मयी दिशाएँ, तम बन गया अथाह।
सुनी वृद्धने करुण व्यथा-सी दर्द - भरी सी आह।

सुत ठुकराया, टकराए फिर, हृत्तन्त्रीके तार,
झनक उठा नस - नसमें कम्पन ले अपना संसार।
गिर कर सुतने दे निज तनकी चेतनता सुकुमार
जीने - मरनेकी सीमापर तज दी आत्म - पुकार।

अपने टूटे हृदय - हारसे बढ़ी वेदना घोर।
सोचा, प्यारा पथिक गया अनजान जगत्‌की ओर।
तन पर फेरे हाथ, शिथिल था शान्त श्वासका गर्व
आकुल अंध वृद्ध निज सुतका पढ़ न सका लय - पर्व।

पीड़ाके बेतार तारसे अन्तरके सन्देश
लगा भेजने अपने नभसे अन्य गगनके देश—
मैं भी बालक बन रोया था ले अपना संसार
हँसती थी माताकी जगती देकर अपना प्यार।

गेहूँकी रोटीपर हठकर देता था घट फोड़।
माँ पुचकार बुलाती थी आ, ले ले, कुछ मत तोड़।
और दौड़कर मैं आता था फिर जाता था भाग
बाहोंके बल कहीं छिपाकर माँकी आँखें, त्याग

यह लुक - छिपका खेल, चला आता था मैं झट पास
जब कहती थी माँ, 'आओ, बिल्ली लेती है साँस।'
दही - भातके तोते - मैनेसे था मेरा प्यार;
बड़ी छड़ीके घोड़ेपर था जाता जीवन हार।

धूल - भरी अलकोंमें करता था रचना निर्मूल,
हँस देता था जब गिर पड़ते मातृ - कूलमें फूल।
प्रिय सुमनोंका गूँथ जन्मदा जाती मन्दिर - द्वार
और माँगती थी देवोंसे सुतका अभिनव प्यार।

माँके न्यायालयसे मुझको मिला न कोई दण्ड,
जिससे हों हो गए कभी मेरे सब चूर घमण्ड।
मेरे अपराधोंपर माँका यह विचित्र था न्याय—
'मेरा सुत करता न स्वप्नमें भी कोई अन्याय।'

लूट लिया जगने प्रिय! सब तेरा जननी - शृंगार,
मिला मुझे इस निर्धनतामें यह शैशवका भार
ढो न सका है जिसे प्राण! निर्बल तन दिन दो-चार।
हाव - भावकी वीणामें अब दे करुणाका तार

दबे कण्ठसे स्वर भर गाती मूक वेदना गान।
आहोंकी सन्तप्त उसासें करतीं आँसू - दान।
झाँक स्वर्गसे देख प्रिये! तेरा यह पति निर्दोष;
पर होता है काँटोंसे आपूरित उसका कोष।

खूँट देखकर यह जीवन-प्रिय सुत दुर्दिनका पेट
भर लेता है विश्व - शान्ति - सी शिशु - वंचना समेट।
खिले फूल - सा मेरा यौवन भी रखता था गंध,
झूम - झूमकर जग - लतिकामें ललचाया हो अंध;

हँसनेमें जिसके क्रीड़ा थी गानेमें उन्माद
जिसके तनकी अमर पहेली ले अपना सम्वाद
जगके कण - कणमें भरती थी मादकताका रूप
मौन निर्झरी गिरिसे झर - झर हो जाती तद्रूप,

वही आज सपनेमें सुनता है जब जगकी आह
जीवनके अभिसार - प्रणयमें खोता आत्म - प्रवाह
उल्लासोंकी रम्य हँसीमें चिर यौवनका शान्त
रस बरसा था। मधुर सहचरी! हा जीवनके प्रान्त

कितने थे सुन्दर वे जिनमें शशि कर कोटि पसार
कण-कणको शीतल करता था भर कर प्यार अपार।
प्रथम मिलनकी रात और प्रण—'तुम मेरे हो प्राण
और प्राण हूँ देव! तुम्हारी मैं, तुमसे ही त्राण,

अधर - पान - रस अमर पान अर्पण तर्पण, संगीत,
गीत तुम्हारा मेरा, मेरी जीत तुम्हारी जीत,
बड़ी बड़ी आँखें कह तुमने दिया मुझे सम्मान
और बढ़ाया था मैंने भी सदा तुम्हारा मान,

चूम - चूमकर पलक कहा था—'तेरे सरस कपोल
कितने सुन्दर हैं, इनमें है लाल भरा अनमोल।'
कभी कभी सम्भ्रान्त प्रेमपर मानवताका रंग
चढ़ जाता था जग - उलझनसे कोमलता कर भंग;

वह जाती थी रूठ क्षणिक मैं बनता और उदास;
पास - पास हम मँडराते थे लिये मिलनकी आस;
मेरा प्रिय सुबोध भी अपनी तुतली बोली बोल
घुटनोंके बल दौड़ मानिनीका मधु अंचल खोल

माँकी चितवन खींच पिताकी आँखोंसे दे जोड़
अन्तरका साम्राज्य सदय देता था हँसकर तोड़।
शुद्ध प्रेमका छिपा - छिपा अंचलमें उज्ज्वल हार
मेरे जीवनकी प्रतिमाका करती थी शृङ्गार।

गुणका देकर योग प्रकाशित करके दीपक स्नेह
आभा - परिपूरित था, उसने किया अन्धतम गेह।
जिसके छवि - प्रकाशके लोलुप धनी शलभ निश-काल
जले प्रणयकी तज आशा रच-रच उसके हित जाल।

उमड़ाया था गया सदा सागर मेरे विपरीत
सब पशु-धन हर लिया गया कट गए और सब खेत।
खोदी गई पन्थपर खाई मैं जब चकनाचूर
किया गया प्रतिपल प्रतिथल संपोड़ित, पर सिन्दूर

धूमिल उसका हो न सका, वह थी देवी द्युतिमान;
कितने भस्मासुर आए पर जले लिए अपमान।
लिया धनीसे सत्य मार्गपर मैंने झगड़ा मोल
और आत्मबलसे पलमें उसकी दी पोलें खोल

शुद्ध यद्यपि मैं विजित वर्गका तदपि लगाई होड़
और प्रलयके कोप सरिस बन कर दी माया तोड़;
पर धनपतिकी कुटिल चालसे लगी भवनमें आग
शेष रहा तिनका न एक, था संचित जिसमें राग।

धरन-बँड़ेरे जले, जले सब मेरे लघु प्राचीर,
जले भाँड़ सब, जली कठौती, जले सँजोये चीर।
जला सूप, चालन जल गई अपना जल गया धाम
किया पूर्व पुरुषोंने जिसमें सुखसे था विश्राम।

सह्य हो गया सब कुछ हमको, सह्य हो गई आग,
किन्तु मलिनताकी ज्वाला बन गई विषम बड़वाग।
महा अग्निके बाद उसी सूनी कुटियामें बैठ,
दे मँहँगा उपहार मिलनका अन्तरतममें पैठ

मृगनयनोंमें और छिपाये पीड़ाओंका ज्ञान
हाय विवशताके बन्दी-से लेकर नीरव मान
बोली, "जीवनधन! मुझको है जगमें सब स्वीकार,
किन्तु नहीं खोना प्यारे! अपने प्रियतमका प्यार।

जीवनके निःसीम सिन्धुमें कितने आए ज्वार,
अटल रही प्रियमें ममता खोले अपना सुख-द्वार।
किन्तु उसी सुखकी निधिसे मिल रहा तुम्हें प्रिय! दण्ड;
हाय क्यों न हो गया अभागा यह तन शत-शत खण्ड?

जो न रहूँगी नहीं रहेगा प्रिय! यह पापाचार,
शीघ्र दूर हो जावेगा दानवका अत्याचार।"
समझ न पाया जगहित प्यारी कर लेगी विष-पान
पलकोंमें रच लेगी वह अपने हित स्वर्ग-विमान।

जीर्ण कुटीके करुण कोणमें देखा उसका अन्त
और 'उषा'के अलसाए अंचलपर तुम, हा हन्त !
घनपति ! इस जीवन दुखियाको भी अब जीने दे न,
क्योंकि उषाका मोल चुका पाऊँगा आँसूसे न ।

मधुर विषाद लिये ओठोंपर छुई-मुई-सी हाय,
विभव समेटे गरल-पात्रमें हो करसे निरुपाय
चली गई उस पार विश्वके देकर तीखी याद
तुम्हें मातृ-प्रिय-चिह्न सौंपकर मीठा-सा उन्माद ।

मैं न रख सका तेरी थाती तेरी 'तारा' मौन
खड़ी-खड़ी है देख रही है लेजाता वह कौन ।
तेरे आज अभागे जीवनका यह करुण अभाव
ले बैठा वह प्यार सदयके हित दे अमिट प्रभाव ।

उसकी धूमिल-स्मृति भी प्रियके अन्तस्तलके साथ
उड़ा वायु बन अन्तःस्वरमें लग अन्तकके हाथ ।
यदि हो मिलन-कल्पना सच, बाधूँ मैं जर्जर धीर,
बिछुड़े ये तन-प्राण मिलेंगे किस तटिनीके तीर

आदि-अन्तपर कभी मिलेंगे, साधूँ क्या यह योग ?
क्या है सत्य अन्त गति ? चलकर क्या होगा संयोग ?
अरे वियोगी क्यों कहते जीता जबतक अनुराग
कभी मिलेंगे अथ-इतिके पथपर जीने दे राग ।

जीवनकी वीणाको लेकर प्रमुदित आवे प्यार,
रह-रह खींच चढ़ाए झंकृत कर नस-नसके तार,
मधुर उसाँसोंकी सरगमपर छेड़ प्रणयके गान
मोहित करनेवाली तुमने अजब लगाई तान ।

भूल गया मैं तन-मन-धन बाहरका सब संसार।
परियाँ आईं उतर गगनसे ले हाथोंमें हार।
गतिमें प्रगति उठी, स्वर बदला विकृत हुए सब तार
टूट-टूटकर इधर-उधर गिर गए; गीत शृङ्गार

धीरे-धीरे थकित हुआ हो गया गगनमें लीन
करमें आतुरता क्यों इतनी तुमने भरी नवीन ?
प्रेम ! प्रबल गायक तुम निर्बल है वीणाका अंग,
कभी न ला सकते हो इसपर तुम वह अपना रंग।

परमेश्वर है प्रेम, प्रेम है परमेश्वरका नाम;
आना-जाना प्रगति, पतन-उन्नति जीवनका काम।
जीवन क्यों कर सके तुम्हारी समता हे भगवान् !
अपने आत्मदानसे मेरा मिटा दिया सब मान।

अब तुम इस टूटी वीणापर क्यों अतिशय हो मौन,
दूर-दूरसे ही दर्शन दो, विश्व न जाने, कौन ?
इस निष्ठुर जगकी निष्ठुरता निर्धनताके तीर
चातकके पी पी में उतरी बन छुरियाँ बेपीर

चीरा जर्जर तन अचीर ममताका ध्यान बिसार
अनुरंजित कर दिया गगन-तल लेकर शोणित-धार।
घोर घोर घन घिर आए, घहराई घटा घनान्त
हुआ गगनमें, मधुर गान गा उठे मयूरी-कान्त।

रिमझिम-रिमझिम छहर-छहर बूँदें पड़ चलीं अनन्त,
शीत तापसे रिक्त पवन बन आया सुन्दर सन्त।
घूम-घूमकर घास उठी ऊपर उत्थान उमंग
अंग-अंगमें व्याप्त हो गया तृणमें अलख अनंग।

पर मिट्टीमें मिला सभी जब जगका अत्याचार
विदित हुआ विद्युतमें; पीड़ाएँ बन आया प्यार।
पर बोलो हे अमर प्यार! क्या हो सकते हो चूर
दबकर तुम अत्याचारोंसे? कभी पन्थसे दूर

हटा कभी सकता क्या तुमको यह जगका उत्पात?
परिवर्तन है कुछ न तुम्हारे लिये, लगन दिन-रात
जब बढ़ती रहती है तुममें तुम जीवन हो, प्यार!
सदा बँधा रहता है तुमसे यह मायाका मार।

जो बढ़ता तेरे विनाशको वह सब होता व्यर्थ,
सत्यानाश छिपा है उसका इस गतिमें, क्या अर्थ
समझा कहीं तुम्हारा जगने? क्यों यह पापाचार?
बढ़ता है तुमपर यह जग लेकर क्यों अत्याचार?

पर-पीड़ामें नीच-हृदय पाता अतिशय आनन्द
महानाशकी अग्नि शिखामें पड़कर भी मतिमन्द।
निर्बल और दिव्य जीवनकी हो जाती है हार,
पैशाचिकता सबको दलकर लेती बाजी मार?

खड़ी खड़ी सब पूत भावनाएँ रह जातीं आज,
किन्तु सभी दुर्दान्त दुष्टताएँ रच लेतीं काज।
समझ सकूँ क्या इसे सफलता या जगका उन्माद
क्षणमें उतर-उतर लाता है जोनित एक विषाद

दे मिथ्याका साथ क्षणिक सुखका करके उपभोग
आठ पहर जीवनके जाते हैं दुखका कर योग।
बेटा! जीवन सफल तुम्हारा है इस कारण आज,
आज तुम्हारे दुखपर हँसता जगका उच्च समाज।

जिसने मुझे हँसाया क्षणभर मैं उसका उपकार
जीवन भर मानूँगा सुखमें या दुखमें; अपकार
किया गया तेरा तो क्या तुमने जगका साहित्य
अपनी कोमलतासे सींचा यह अपना साहित्य,

करुणासे भर गया, और जगने पाया कुछ हास्य,
होता रहे भला उसका, उसको न सतावे दास्य।
एक बार तो देख मुझे आँखोंकी पलकें खोल,
खड़ी बहन दुखका समुद्र ले उससे तो कुछ बोल।

किन्तु हाय तुम मौन बने हो और प्रकृति प्रत्येक
क्षण - क्षण अपना रूप बदलती ले सौन्दर्य अनेक।
वह मृगका मृदु शावक चंचल वह बेपरका कीर,
वह हरिणोंका हरिण सुनहला, वह गजेन्द्रका वीर,

वह गैयाका बछवा प्यारा, वह छौना सुकुमार
खग का, जग का, जग जायेगा, जग जायेगा प्यार।
प्रातःकी वेला आवेगी आवेगा रवि लाल
बाल-बाल, पर जग न सकेगा हे बिधि मेरा लाल।

बाल - अधर - पल्लव रसके भूखे जर्जर तन - पत्र
अधर वृद्धके आज थपकियाँ खोज रहे सर्वत्र।
ललचाई पलकोंसे, लेकर चुम्बनका आभास
खुले अधर में; तरु डाली - सा झुका बैठकर पास;

ओठोंपर रख दिए ओठ लोचनमें अन्धी दीठ
और श्रान्तसे हाथ बढ़ाकर धरकर उनसे पीठ
लगा उठाने आलिंगनको पर न उठ सका हाय!
दिखा रहा था रंग बुढ़ापा पा निर्बल निरुपाय।

बना अचेतन वृद्ध, उधर झाँका वह मधुर प्रभात,
फिर उसकी स्मृतिमें आ छाई अंत समयकी बात।
फेंक दिशाओंमें भुज अपने रवि - किरणोंके साथ
कहने लगा वृद्ध ऊँचा सिर किए गगनमें, "नाथ!

ढोनेमें असमर्थ पिता जो अपनी मृत सन्तान
हे प्रभु! उसको क्यों देते हो फिर फिर जीवन - दान?
जो न माँगता मृत्यु उसे करते तुम जीवन दान
जो न माँगता जीवन उसको करते मृत्यु प्रदान

तो क्या जाता बिगड़ तुम्हारा? यह गति है अनजान,
सुत को मृत्यु! मुझे जीवन! कैसा है यह वरदान?
और चाह जनकी कुछ है, कुछ और तुम्हारी देन।
निर्धनतामें प्राप्ति कभी सम्भव है रसतासे न।"

फूल उठा था पंजर साँसोंसे उसका तत्काल;
यह सहनशीलता थी। वह बोल उठा कंकाल—
"अम्बर-तल प्रिय कफन तुम्हारा मंत्र हमारी आह,
लम्बी सासोंसे हो जाये अन्तिम आज प्रवाह।

आँसूकी चलती गंगापर कँपे हृदयका पौन
खेल रहा है मधु लहरीसे लुक-छिप होकर मौन।
उसके ही उपकूल तुम्हारी होगी अमर समाधि
बनी रहेगी जल - स्तम्भयुत लेकर रचना - 'व्याधि'

चित्रकार चित्रित कर देना यह करुणाका प्रान्त
दो आँसूके फूल चढ़ावें जिसपर सब पथ - भ्रान्त।"
इस प्रकार मूर्च्छित - सुत तजकर अन्ध पिता हो दीन
धीरे - धीरे सुता - सहित हो गया क्षितिज में लीन।

तृतीय सर्ग

लम्बे लम्बे खेतोंको हाथों - हाथों ही जोत
दो जन थके मौन बैठे थे; स्वेद - कणोंका स्रोत
होता जाता मन्द, सुदृढ़ सुन्दर दो जोड़ी बैल
दौड़ - दौड़ कर रुक जाते थे जहाँ रम्य तृण फैल

हरी - हरी सुषमा भरते थे; रम्य फुनगियाँ फूल-
फूल जहाँपर इठलाती थीं होकर सरस समूल।
चिकने - चिकने परिहथवाले हल थे पड़े सफार
जिनसे जगके प्रश्न हुए हल जाते बारम्बार।

कोड़ - कोड़ कोनोंको पल-पल श्रमित जोवि निर्मूल
करनेवाली कहीं पड़ी खाती कुदाल थी धूल।
हेंगा लेटा कहीं पड़ा था, प्रस्तुत निकट बबूर,
आस - पास ही खड़े हुए थे मेड़ोंवाले भूर।

श्रम कर चुके, ले रहे थे जैसे वे अब विश्राम,
बोला एक व्यथा लेकर था भूला जैसे धाम,
"हे नर जगके जीव ! तुम्हारे हैं विचित्र सब खेल,
नहीं ज्ञात है, कहीं नियतिसे हुआ तुम्हारा मेल।

बरसेंगे ये न, घन सहेंगे अब पानीका भार
घूम चुके ये गगन बहुत, अब घूमेंगे संसार।
तुम न चलोगे पर नभमें क्या पलमें यह थल त्याग ?
कभी न होगा दैव ! तुम्हारा परिवर्तित अनुराग ?

वे दम्पति थे सभ्य, गये जबसे, यह सूना गाँव
भीतर-बाहर बना हुआ है। हम थे एक उकावँ
जिसमेंसे हो गए पृथक् हैं चने गोलसे लाल
और बचे भूसेसे हम तृण हैं—विकीर्ण है खाल।

'धर्मदेव' खेतोंमें खलिहानोंमें था सुरदेव
जिसकी बोलीसे गिरते थे गोल - गोलसे सेव।
निशमें जब वह खेतोंका प्रहरी था, था समभाव
रखता नित्य अपर खेतोंपर; वह पशु-जीव दुराव

करता था नित एक रागसे; खलिहानोंमें छोड़
हम आते थे राशि उसोपर; वह था बड़ा हँसोड़
दुखमें भी हँसता था, उसकी हँसी एक थी ढोल,
ढाल - ढाल लेती थी जो हम सबको स्वरमें घोल।

वह देता था सबको दुखमें हँसनेकी ही सीख,
हम लेते संतत उसकी सेवाओंकी ही भीख :
मिट जावें निर्बल जगसे, क्या बने रहें बलवान ?
दुखी बनें निर्धन ही सन्तत, बनें सुखी धनवान ?

ये थे उसके विषय और, इनमें रहता था मस्त;
कभी भीड़से वह न हुआ था निर्धनतामें त्रस्त।
अपने घटते या बढ़ते वैभवपर था सन्तोष,
परके हितपर रिक्तपर हुआ था कभी न उसका कोष।

राही कोई कभी माँगता संध्याका विश्राम
सब कह देते, जाओ वह है धर्मदेवका धाम।
कुछ - कुछ ऊँचा थल खेतोंका कहता है दे छोड़
हमें अरे बहते पानी, मेड़ोंतक जा तू दौड़।

हरे - हरे हिंगुए तर जाते हैं बेघरके जीव
जब गर्मीकी रश्मि उन्हें करती है दुखी अतीव।"
"वह ब्राह्मण था टहलू ! तेरा कथन कथा है आज,
क्यों न पुजारी रक्खे अपना वैसा क्रूर समाज ?

वंचित करे न विश्व कभी, मन्दिरसे ऐसा देव
देखे - सुने हमारी जो प्रत्यक्ष। 'मिला न परेव'
कहा किसीने कभी नहीं जब क्षपा हिमानी घेर
हिम लाती थी पथमें, या जब रविकी रश्मि सहेर

निज समाज दोपहरीमें करती थी घृतका हौन
पगडण्डीके धूलि - कुण्डमें, तब जाता था कौन ?
धर्मदेव जब कभी देखता पिछड़ा कहीं किसान,
बिना बुलाए दौड़ वहाँपर जाता था मुख मान।

कथा पड़ी हो, या विवाह हो, या हो कोई काम
जबतक वह नररत्न न आता था, तबतक वह धाम
निर्जन-सा लगता था सबको, सब उसपर थे मुग्ध।
भाई टहलू ! आज देखता हूँ मैं जन - जन क्षुब्ध।

वही वायु है, वही नीर है, वही लता मय गेह;
वही चरन प्यारी - प्यारी है; वही घहरता मेह;
वही राह टेढ़ी - मेढ़ी है; वही पुराना नेह;
वही लता है कुंजोंवाली जन - मनहरन सरेह;

पर खोया है सबने कुछ ऐसा लगता है आज
मिलता है जो कभी नहीं देकर युग - युगका राज ।
दुख-सुख दोनों बुझे हमींमें, शमता शिव - निर्माल्य
बनी आज, स्वप्नोंमें बीते वे सब अनुभव बाल्य ।

आँधी उभरी आज क्षितिजसे यह पश्चिमकी ओर
और जोतने लगी दिशाओंका पलमें वह छोर ।
आज निशा आई पश्चिमसे छोड़ पूर्वकी राह—
बिना नखतकी, बिना जलदकी—अनजानीका थाह

लगा न; खग भागे आगे; जागे द्रुम; जागे लोग,
करने लगे देख संशय सब, शिशु शावक संयोग ।
बहने आता तुम्हें पवन है नहीं आजके प्रात,
क्या सोये थे नहीं तनिक भी साथी ! पिछली रात ?

झूम - झूम तरुशिखा अपर तरुकी डालीको चूम
झुककर बलखाती थी वह तहराज तने - पर घूम ।
उड़ा क़हक़हा तरुपत्रोंका; ताली बजी अनूप;
रणमें गिरने लगे करोड़ों किसलय - दलके भूप;

वनके लाखों जीव मौन बन सोचें, लाखों चाल
चले अगम पथ कूटनीतिके और फुलाए गाल;
लुक-छिप फूँके कान विटपके, तरुने शाखा फेंक
किया घोर विद्रोह आज आँधीका सब पथ छेंक ।

हुई विजय थी तरु-खग-दलकी फिर आई वह शान्ति,
छिन न सका स्वातंत्र्य, मचाई जब सबने मिल क्रान्ति ।
लगे सजाने तरु अपना फिर वह विकीर्ण-सा साज,
लगी देखने कली राह कब आवेंगे वनराज ।

बची - खुची पत्तियाँ सँभाले, साजे अपना रूप
लगीं देखने कब आवेंगे फिर वे रवि - कर भूप।
विहगोंने फिर दौड़ - दौड़कर देखा अपना देश,
कहाँ कौन - सी क्षति आई है, कैसा बनका वेष

परिवर्त्तित है हुआ; गिलहरी टूटे तरुपर दौड़,
अमर श्वास दे रही उसे प्रियतमकी बातें छोड़।
हम पल्लव हैं बचे हुए, बीता अपना ऋतुराज,
किस उपवनका है वह बूढ़ा आज सजाए साज ?

आँधी चली गई है पलमें और गगन है श्वेत
तृण - पत्तों - से भरे हुए हैं आज कटे ये खेत।
छोटी - छोटी जड़ गेहूँकी जौकी है दीवार
जिसके भीतर झञ्झानिल है घुमा रहा पतवार।

मेड़ोंके बन्दरमें हैं बहते पत्तोंके पोत
और बवण्डरमें बनते हैं ये जलयान कपोत।
ये बन्धन थे घने प्रकृतिके, वह था चतुर किसान;
उसे प्रथम खेतोंमें पाता था नित मधुर बिहान।"

"और प्रिया उसकी थी महँगू ! सीता सती समान,
घरमें बनमें वह मैनी थी छू न सका था मान।
आस-पासके शिशु - बालक थे सब उसकी सन्तान;
वह सबकी माँ थी, शैशवकी, उससे थी पहचान।

वह कहती थी मिल न सकेगा, तेरा इच्छित लक्ष,
यदि तुम लय अपनी लोगे लोगे अपना ही पक्ष।
गरल पी गई और पी गई जगका करुण - विधान,
मानवताका पाप पी गई, नित - प्रतिका अपमान—

निष्ठुरता - अभिशाप पी गई, नीच नरोंका शाप
युगका अत्याचार पी गई पल - पलका परिताप
और दे गई सीख हमें हो—हो करके बलिदान
लड़ते लड़ते जीते - मरते रखना है सम्मान।

कुलवधुएँ थीं सखी सभी, सबसे था स्नेह समान
कलह न पा सकता था उसके वैभवमें सम्मान।
शुद्धा थी, आदरणीया थी, थी गौरवसे युक्त;
चन्दन - पथ जो गया न वह रह सका गंधसे मुक्त—

वह पनघटपर गई एक दिन घट फूटा बेमेल
पनिहारिनके लिये बन गया यह अद्भुत - सा खेल।
वह सरितापर गई, हुआ तरुणीसे तटपर मेल,
लगा टपकने सिकतासे भी मधु - वाणीका तेल।

वह भूजेवालीके घरपर गई दोपहर - काल
मृदु बातोंमें घनहरियोंकी व्यथा मिटी तत्काल।
जहाँ - जहाँ जाती थी वह रचती थी एक समाज
जिसका सपना ही हम सब जन देख रहे हैं आज।

जब असमयमें छिन्न - भिन्न होता था मेरा प्रान्त
हम लेते थे अपर राह जीवनसे होकर क्लान्त;
आत्म त्यागको छोड़ और जब किया आत्म - संघात
मिटा जगमगापन खद्योतोंका वह सुख - संजात;

पलकोंमें जब बना अंध द्रुमका वह नैश प्रकाश
जुगनूगणका, मिला जहाँसे नव विज्ञान - विलास—
हरे लाल बल्बोंका क्रमसे आना जाना, राग
शून्य जगतमें बना रिक्त जब हुआ अबोध - विराग

वे दम्पति ले बढ़े दीप दो धरकर मेरे हाथ
और चले मेरे पथपर मेरी रजनीके साथ।
इधर - उधर दुर्गम थल, पतली पगडण्डीकी राह
अवगाहन हो गया उषामें मिली एक मधु आह।

सुखकी मेरी बढ़ी और निधि जब रविकी, तब लिख
हुआ न वह दिन - सा उसमें, उसकी वह आभा तृप्त
पृथक् हुई थी नये दिवस-सी; वह दिनकर या सोम,
नहीं धातु था, नहीं सूत्र था स्वयंसिद्ध था ओम्।

नित्य खुला रहता था उसको, दिव्य कुटीका द्वार
और सजा रहता था सन्तत शुभ स्वागतका थार
उठा बवण्डर महानाशका जब नभका मुँह खोल
तृण उठ चले गगनमें नाचे कण चक्करमें डोल,

जलमें, थलमें उथल-पुथल मच गई; मिट गया साम्य;
मनुज - गहन-मण्डलका कम्पित हुआ भूत-सम्भाव्य;
एक मार्ग बन गया जलदसे उतरा थलपर काल
काला अन्तर लेकर घन - सा बना वेष विकराल

मुद्राओंका लम्बा - लम्बा दसन लगाये और
बढ़ा काटने मानवताको असुर ठौर - पर - ठौर।
मिटे देव कितने ही, कितने मन्दिर बने मसान
उन धनियोंमें और न जाने कितने आए श्वान

पर न डिगा वह दम्पति पथसे, बढ़ा लिए निज राह
निर्भय सदा महागज - सा वह, था नरवीर अथाह।
अजित देव वे रहे और वे रहे अनघ सुरदेव;
संग्रामोंके बाद हँसीमें बोला था वह देव,

"महा प्रलयमें मैं पाता हूँ चिरजीवनकी क्रान्ति;
आकुलता-से दूर मुझे मिलती है दुखमें शान्ति;
परिवर्तनमें ऐक्य और गतिमें वह पूर्ण विराम,
रम्य रेंगनेवालोंकी रतिमें मिलते हैं राम।

सींच किसीकी आशाओंकी छीन किसीका राज
ऊँचा बनता है जगपर नीचे गिरता है ताज।
वह सहता है जो करता है चाहे जग देखे न,
गानेवाला स्वयं सुनेगा यदि नर अन्य सुने न।

वह सोचे-समझे क्या जिसने धोया अपना ज्ञान
खोए जिसके नयन, करे वह कैसे खग पहचान?
देनेवाले हैं जो विपदा, स्वयं बिपदसे ग्रस्त
बने हुए हैं, वे सबके सब अपनेसे हैं त्रस्त।

इनके जगसे दूर हमारा एक अपर है लोक
बुझ न सका है जहाँ कभी मंजुलताका आलोक।
पीत पुष्प फूले बबूलके शीश-फूल रुचिमान
द्रुम-नारीके झलक रहे हैं मधु है, मन है, मान।

आदर्शोंकी झरे निर्झरी नरमें गुंजन-गान;
खरकी बर्बरता भी मुझको प्रिय है, पय है पान।
महँगू! ऐसी गरिमावाली हो जावें दो चार
रम्य रमणियाँ, रमण करेगा क्यों न वहाँ निधि-प्यार?

कलियाँ खिलें आज ऐसी ही घर-घर सायं प्रात,
टाट-टाटपर अमर-बेलि लहलही रहे दिन-रात।
भलीं रही पर कभी-कभी उससे कोई जन खिन्न
हो जाते थे और भाव करती थी वह भी भिन्न!"

यदि समझ, तुमने ऐसा समझा है सिन्धु तड़ाग,
समझ सके हो नहीं जलन कितनी रखती है आग !
कितना पागलपन है प्रियमें, कितना रवि है श्वेत ।
जगकी कितनी चमक छिपाए हैं ये रज, ये रेत ।

हो जाती थी मौन, मौन चलता था किन्तु विचार—
'कब लेगा पथ भूला, कब मैं मौन करूँगी प्यार ?'
भावुकताका मौनपना नीचता न, है गाम्भीर्य;
गहरा-गहरा गठे रंग कटुतापर मृदु सौधीर्य ।

रूठी-सी रहती है माँ रहता है सुत-सम्मोह
जब जाता है चेत मिटाती है वह मनका द्रोह ।
"टहलू भइया ! समझ गया मैं बड़े जनोंकी बात
सदा बड़ी होती है, गुण करता है उनका घात ।

सुना न सपनेमें नारी कोई उसके विपरीत,
सदा सभी करती थीं उससे प्रियतम-जैसी प्रीति ।
वह मनोरमा थी, पाया था उसने पतिका प्यार
और मिला पतिको पत्नीका प्यार-भरा संसार ।"

"महँगू ! उसके आत्म-विसर्जनका ही यह परिणाम
देख रहा हूँ दिन-दिन समझा ये धनपतिके काम
उसके ही उत्सर्गोंसे हैं हुए प्रभावित आज
उज्ज्वलताकी ओर जा रहा है यह मलिन समाज ।

जलमें, थलमें, ताप-तुहिनमें, गिरिमें आशावन्त,
उपवनकी लहलही लतामें वनमें ज्योति ज्वलन्त,
रवि-किरणोंमें, चन्द्रकरोंमें नभके घनसे टूट
बरस पड़ी वह ज्योति गगनसे; इन गलियोंमें फूट

निकल पड़ी जो सुधा उसे पीकर हम बने महान्,
अमर नहीं होंगे मेरे स्वप्नोंमें कभी समान।
बदल गईं रातें, दिन बदले, बदल गया है 'श्याम'
उस दम्पतिके ही प्रभावसे उसका चरित ललाम

बना आज, सुनता हूँ घर-घरमें मैं उसका नाम
मैं प्रसन्न होता हूँ जब कहता है, "पिता, प्रणाम !"
क्यों न गौरवान्वित होऊँ मैं पाकर ऐसा पूत
दृढ़ करता जाता है जो नित उस दम्पतिका सूत

सदा अमर उनके सुत हों होवें वे कहीं, विशाल
बनें, गिरें उनके पग-पगपर पावन लाल प्रवाल।"
हल-हेंगा उठ गए, आ गए बली बैल अनमोल,
उठी कुदाली और चल पड़े दोनों 'जय हरि' बोल।

उठते थे पग सोच-सोच आता जाता था ग्राम,
जिसके नर-नारी रटते थे धर्मदेवका नाम।

चतुर्थ सर्ग

उधर विपिनसे लाता था सौरभ सानन्द समीर
मन्थरतासे रुका हुआ था जिसपर सरका नीर।
शीतलता पाकर निशि-दिन हँसता था वन-तरु-वृन्द
जिसकी छायामें हरीतिमा तृणकी बनकर फन्द

फाँस रही थी अनजाने सुन्दर पशु विहग अनेक
जिनके स्वरमें मस्त बना था छविका वन्दी एक।
नीरवताकी रुचिर कुटीमें योगीका अनुराग
धीरे-धीरे बुझा रहा था अपने मदकी आग

भौंहोंमें थी क्षमा और उसकी आँखोंमें लाज,
रोम-रोमपर खड़ा हुआ था मानवताका छाज।
नव यौवनकी सुन्दर वीणापर ममताका गान
जीवनके तारोंसे गाता था नित मंगल मान।

उन वृक्षोंकी विभूतियोंमें पल उसका रुचिमान
देख रहा था हृदय नित्य जगकी कातर मुस्कान।
देख रहा था मायाके बन्धनकी गली नवीन
झाँक रहा था वातायनसे जहाँ जगत्का दीन।

इतनेमें ही कुछ चटकीं कलियाँ ले मधुर विकास
पावन-दर्शन-प्रिया खड़ी हो गई युवकके पास।
रूप-सुधा सौन्दर्य-सदन मधु-चन्द्र-हास-शृङ्गार
ले उच्छ्वास अधरपर बोली, "मेरे प्राणाधार!

रो-रोकर जीवनकी घड़ियाँ गिनता मनुज-समाज
अन्धकार सर्वत्र हृदयमें; दारुणताका साज
साज खेलता आँखमिचौनी जीवनकी दिन-रात,
अन्य प्रलयमें किन्तु बिताते सन्ध्या और प्रभात!

इस अभिशप्त समाज कुटिलके जीवन-कृत्य निहार
अस्त हुआ जाता है मेरा यह कोमल संसार।
एक रुदन उसका पाया है, जिसका हृदय-मसान
ले बैठा है किस माँका जीवन-धन अलभ महान्?

दग्ध हृदय-तल सुत-विभूतिसे प्रिय! मेरा यह अंग
अब भी शुद्ध हो रहा है लेकर यह उज्ज्वल रंग।
ललित लोल अलकें मस्तकपर घूम-घूम दो-चार
अब भी कुंज बनातीं जिसपर छबि जाती है हार।

दुखिया माँके चुम्बनका गालोंपर अब भी चिह्न
सरस प्यारसे नित करता है बिछुड़े हृदय अभिन्न।
लुटी जा रहीं शिथिल शक्तियाँ निर्धन तनसे हार
इन्हें बचा लो प्यार! खोल निज परहित-चिन्तन द्वार।"

दबी दयासे, लेकर प्रियसे प्रिय आशा भरपूर
लिटा धरापर कृश बालकको, स्थित होकर कुछ दूर,
बोली, "मेरे देव! गई मैं लखने नवल प्रभात,
किन्तु देख जीवनमें आई हूँ यह नव उत्पात।

पूर्व दिशासे फैल रहा था दिनका सुन्दर राज
जैसे कोई कृषक आ रहा हो सिरपर धर ताज;
किरणोंके पीताभ अश्वपर प्रमुदित प्रभा सवार
तरु-तरुपर फहराती पोले नव ध्वज-पुंज अपार।

इतनेमें सुन पड़ा कहींसे मुझे करुण स्वर एक।
मैंने समझा गाता होगा कोई खग निज टेक।
किन्तु व्यथामय ज्यों-ज्यों पल-पल बढ़ती गई पुकार
होती व्यग्र गई मैं त्यों-त्यों, हुआ एक चीत्कार

'अरे पिता ! हो कहाँ ? तुम्हारा खोया यहाँ किशोर',
चौंक पड़ी, मै दौड़ पड़ी झट पहुँच गई उस ओर।
देखा मैंने यह बालक ठुकराया-सा असहाय,
वन-प्रदेशमें दुखी चेतना-हीन और निरुपाय।"

आँखोंमें आँसू भरकर जी-भर निर्धन सुत देख,
लगा खींचने अपने उरपर निज ममताकी रेख,
"अस्त हुआ है किस दुखियाका भाग्य-दिवाकर आज ?
देख चुकी प्रेमा ! कितना इस सुखमय जगका राज,

आज किसीकी मनोवृत्तियाँ खेल रही हैं खेल,
और वहींपर तोड़ रहा है कोई जीवन-मेल।
मिल न सका था अन्न, कालकी महायन्त्रणा भोग
खोज रहा है लघु जीवनमें यह अनन्त-संयोग।

ला दो प्रिये ! स्निग्ध, रसमय, सुन्दर भोजन कुछ और,
सजल दृगोंसे देख रहा है प्रिये ! तुम्हारी ओर।"
पा प्रियका आदेश हर्ष-वदनाने बिना विलम्ब
उसे पिलाया दूध, बिना माँका होकर अवलम्ब।

रग - रगमें भर गया पवन जग गई जठरकी आग
रोम-रोमपर जले दीप निकला संगीत विराग।
वहाँ उग गया पलमें मृदु भावोंका रम्य प्रभात,
जहाँ बाल - रविकी सुषमा थी बनी हुई अज्ञात।

उठ बैठा मूर्च्छित बालक, बैठा उठ 'सनत्कुमार',
वह सुन्दर सबमें था जिनको देख चुका संसार।
बोला, "स्वप्नोंके निशीथमें पितृदेवका रूप
हाय! कहाँ खोया मैंने इस दुखी हृदयका भूप?

जिसके हाथोंकी उँगलीसे तरणीका पतवार
डोल रहा था विश्व - उदधिमें काट-काटकर धार
उस नाविककी कुशल कलासे लहरोंके विपरीत
बढ़ती मेरी नैया लेकर लहरोंका संगीत।

अन्ध-निशामें बहन हमारी स्वर्ण - प्रभाका लोक
नित उतार देती थी जीवनमें हँसता आलोक
गया उलझते हुए दीपक झलमल अल्प प्रकाश
कौन प्रान्त उज्ज्वल करनेको छोड़ विपिनके पास?

जो भरती थी मधुर होड़का कर्ण - पुटोंमे गान
कहाँ गई वह मृदु मनोहरा देख बन्धु - अवसान?
शेष निशामें कर पाऊँगा क्या गत रविकी खोज
जीवन - सर-करुणा-मृणालका बन संकुचित सरोज?

एक समस्या और हृदयमें खटक रही है शेष
किस ऊँचेने लूट लिया है लघु मानवका देश?
या कोई पशु आकर मेरे बहन पिताको मार
भाग गया लेकर मेरी मुट्ठीमें आया प्यार।"

झड़ते हुए सुमनमें देखा है जिसने उन्माद,
जो कर पाया है वियोगमें मधुर मिलनको याद,
लुट है गया निमिषमें जिसका अधर अमर अवसाद,
सुन पाया है जो रजनीमें वह चकोर सम्वाद,

हरे विटपके निकट मलिन कुछ अन्तरमें उन्माद
विगत प्रेमकी आशा जिसमें रचते विश्व प्रमाद,
घूम - घूमकर विजन-विजन बिक गया विपिनके हाथ
जीवनकी वेदना सताती जिसे कलाके साथ,

ऊँची - ऊँची विषम कल्पनाओंमें गुँथ - गुँथ भाव
अपनी कथा आप सुनता हो जा नित विगत प्रभाव,
समझ सकेगा वही विपिनके हत बालककी बात
छिपा हुआ जिसकी करुणामें विस्तृत - सा अज्ञात।

भूल गया वह युवक विपिनकी शोभाएँ सुख - मूल,
सभी छिपाए हुए हँसीमें थीं विनाशकी धूल।
बोला, "बालक ! मत अधीर हो 'प्रेमा' तेरा प्राण
नित्य रँगेगी मधुर हँसीसे, मैं हूँ तेरा प्राण।

मै हूँ तेरा पिता, बहन प्रेमा तेरी सुकुमार,
देख यहाँपर लिए खड़ी है वह मीठा - सा प्यार।
कौन कह रहा तेरा सागर है अति अगम अकूल ?
देख प्रकृतिका साज सजा है तेरे ही अनुकूल

लोट - लोट पर्वतके ऊपर और शिलापर जाग
परिवर्तित कर नीर ज्योत्स्ना - सा सुकणोंमें राग
बिखराता सहेरता आता मंजु तृणोंके संग
शंकर श्वेत जटा - सा नद तेरा सँवारने अंग

सहस सहस चित्रित दल प्रतिपल प्रतिथल रूप पसार
विस्तारित कर नयन - मधुरिमा कर रंजित संसार
आते तेरी छबि सँवारने। तेरे स्वरका मोल
वनवासी ये विविध विहंगम करते अन्तर खोल।"

प्रत्युत्तरमें दी बालकने चितवनको पहचान
और कहा, "नित जनक हमारा सहता था अपमान।
उसे देखकर देता था जग मगमें निज पथ छोड़,
रोती हुई देख भगिनीको लेता था मुँह मोड़।

उसी पिताका पुत्र बना था जो नित नीच अछूत
पड़ा हुआ तेरी गोदीमें देख रहा निज भूत।
सुने न सज्जन कभी दुखीकी करुणाको झंकार
क्योंकि विश्व उमड़ा ही देगा उसपर दुःख अपार।

मुझे छोड़िए वहीं जहाँ मैं बना चेतनाहीन
खोकर सब कुछ और हो गया जहाँ दीनसे दीन।
खो देना है पड़ा उन्हें जिस थलपर वह सम्पत्ति
सहने दें कुछ और मुझे उस थलपर नव आपत्ति।

जीवित यदि होंगे आयेंगे कभी न कभी उदार
लोट - लोट परकटे खगों सा पंखोंका उपहार
पायेंगे मुझको पाकर होंगे फिर परम स्वतन्त्र
उड़ जायेंगे गगन बीच जब होगा अपना तंत्र।

हिंसक पशुओंके होंगे वे यदि बन गए शिकार
उसी राहपर मैं देखूँगा उनका वह संसार।
मिलने दें मुझको धूलीमें, करुणाका उद्‌गार
नहीं चाहता, करे आपका ईश सुखी संसार।"

व्यथा - भरी यह बाल - कहानी सुन प्रेमा तल्लीन
हुई व्यथामें सजल गगनकी बनकर दुखिया मीन।
लोल विलास लिए अलकोंमें स्वरमें अलिकी तान
लगा सुनाने शान्त हृदयका युवक कोकिला - गान।

"प्रेमा! इस बालकको कितनी संध्याओंका ज्ञान?
और उषाएँ कितनी देखीं, है कितना सम्मान
मिला जगत्से, अभी और पाया कितना अपमान!
अभी अल्प जीवनमें कर पाया कितनी पहचान?

किन्तु देख लो प्रिये बना कितना है हृदय महान्!
इसके बननेमें लगते हैं अगम अगमसे ध्यान।
शैशवका यह शिशु कोमलताका मृदु नवल कुमार
यह विचारका वृद्ध छोड़ने जाता था संसार।

किसे ज्ञात कितने अलकापति दर - दर हाथ पसार
घूम रहे है नित प्रति कितने ही दर - दरपर मार।
किसे ज्ञात है नित मरते हैं कितने देव, कबीर?
कितने जाते अनजाने राणा प्रताप रणधीर?

कितने बनते और जवाहर पटु प्रिय ममतावान
कितनोंको मिलता पल - पलपर गाँधीका सम्मान?
महापुरुष कितने भूखे भ्रममें जाते जग त्याग?
झोंपड़ियोंमें सीमित रह जाता उनका अनुराग।

बालक! हम दुख-जनक बनें तब क्यों दुखकी सन्तान?
देख विभव सुतका प्रसन्न हों क्यों न सदय सुखमान?
बढ़ता है यदि दुख बढ़ने दो बढ़ने दो आपत्ति
समय बना देगा इनको फिर कभी बड़ी सम्पत्ति।

क्या लूटेगा विभव हमारा लुटा हुआ संसार
दे डाला है उल्लासोंमें जिसने जीवन - सार ?
बिगड़ गई है स्वयं आज जिसके जीवनमें भक्ति
आयेगा वह मुझे लूटने लिए कौन सी शक्ति ?

कठिन - ताप - संतप्त जगत्का चिन्तनीय वह बाण
कुण्ठित है हो चुका कभीका, हो जगका कल्याण ।
सघन श्यामता जिसके नभमें लेकर प्रलय समीर
अभी तोड़ देनेवाला है जिसका जीर्ण कुटीर,

जिसका है उत्थान पतन, उत्कर्ष महा अपमान,
हो जायेगा नम्र प्रेमसे मधुका लोहा मान ।
मुख - मण्डल पर देख रहा हूँ जगके विपुल विषाद
विषम व्यथामें नित करता है जिसका अन्तर नाद

राका शशिकी पूर्ण ज्योत्स्नामें जो आँसू ढार
खोज रहा है शान्ति - लताएँ पग - पग जीवन हार;
कर पायेगा क्या अनर्थ वह जग - जीवन उद्भ्रान्त,
खड़ा हुआ हूँ रन्तिदेव जब मैं निश्चल अभ्रान्त ।

यदि लेकर भी बढ़े आपदा मुझपर बारम्बार
बार - बार मेरी आहोंसे होगी उसकी हार ।
कट जायेगा एक शीश तो होंगे शीश हजार
जब सब कुछ देकर अपनाया मैंने केवल प्यार

सब इस जगके जीव, सभी घर - घरके सौम्य सपूत
मेरी दुनियामें न कभी कोई है कहीं अछूत ।
तुम अछूत मेरी मनोरमाके पुनीत उपहार,
अभी तुम्हारी अरुण छटापर पागल सब संसार ।

शान्त रहो प्रिय सुखी बनो चिन्तित मत बनो विशेष
पा लोगे तुम पिता - बहन जीवन यदि होगा शेष।
मृत्यु अगर ले गई उन्हें, तुम नव जीवनमें जाग
सींच - सींचकर बड़ा करो जो कुछ जीता अनुराग।
कायरता है परम व्यर्थमें खोना अपने प्राण
बड़े बनो, जीकर तुम कर सकते हो परका त्राण।
प्रिय तुम इसे मान लो अपना घर पावन, प्रिय, रम्य,
जिसका कोना-कोना परिचित है प्रिय सरस सुगम्य।"
विटप - लता - सी बालककी काया ले कर तत्काल,
भूल गया वह स्वत्व विपिनमें खड़ा युवक क्षण-काल।
खड़ी रह गई प्रेमा प्रियका देख विभव - विस्तार
कहने लगी, "प्रेम है मेरे छिपे हृदयका सार।"
कितने ही दिन गये कहानी कही गई थी एक।
कहने वाला एक और सुनने वाला था एक।
उसने कहा सुख सरसीसे सपनोंमें स्वर खोल,
सरसीने था कहा कमलसे कमल बना अनमोल।
विह्वलतासे पहुँच रहा था कवि कुटियाके तीर
मधुर - मधुर कानोंमें कहता कुछ था सरस समीर।
वहीं कहीं छिपकर कोनेमें कविने गाया गान
कलियोंकी वह बनी कहानी गलियोंका वह गान।
सबने जाना होनहार बालक आया है एक
बना रहा है जिसको अपने सुत - सा जन प्रत्येक।
जो घर - घरका रहनेवाला पानेवाला प्यार
घूम - घूम मीठी बोलीके जो पहिनाता हार
सुनता सबकी दर्द - कहानी हर लेता है पीर
किस प्रकार पूछता चला जाता प्रकाशका वीर।

पंचम सर्ग

कर न सकी थीं अभी सूर्य-किरणें अपना मृदु-हास,
पीत पताका अभी न फहराई थी द्रुमके पास,
अभी न सुनता था जलमें जग भ्रमरोंका संगीत
सर न हुए थे सिक्त मृदुल नलिनीसे मधुर स्फोत,

अभी न सौरभसे लदकर शीतल समीरका यान
मंद - मंद चलकर भरता था निधि मस्तिष्क महान्;
किन्तु रश्मियाँ राकाकी अम्बरसे तलकी ओर
गिर-गिर बिखराती थीं पल-पल अपनी उज्ज्वल लोर।

गिरते हुए नखतकी अभिलाषाओंका संसार
अभी निराशामें मिटता था खोकर स्वर्णाकार।
अभी मौन थी चिन्ताकी कुटियामें पिछली रात,
झाँक रहा था तल - निर्मित मन्दिरसे रम्य प्रभात।

निशा - दिवसके संगमपर जो उदासीनता - शैल,
छुड़ा रहे थे उसपर राही निष्ठुरताकी मैल।
सबल पवन जो चले झुकेगा इधर - उधर दृढ़ बाँस,
कुछ पत्तोंको फेंक गगनमें खेलेगा वह तास।

दिन बीते, रातें बीतीं बीते कितने ही मास
वर्ष - वर्षके पल - पल बीते देख रूपका ह्रास।
यौवनमें वृद्धत्व और शिशुतामें यौवन मौन,
समय ला रहा था परिवर्तन क्षण-क्षण जाने कौन।

खेल रहे थे सुता - पिता परिवर्तित मनका खेल
भाँति भाँतिके पहन वस्त्र भावोंके; भवकी रेल
धक - धक बढ़ती ही आती थी; कितने सुन्दर देश
छोड़े वन, गिरि, सर, प्रपात, तरु छोड़े विजन-प्रदेश।

स्वयं न बाला समझ रही थी वयस लिए किस ओर
उसे चला जाता था वह था सज्जन या अति चोर।
छिपा हुआ सौन्दर्य छिपाए अन्तरमें संकोच
तन बटोर जाती थी बाला, क्या वय उरमें सोच!

भाग तिमिरसे सिमिट चाँदनी घन-गत शशिकी शेष
छिपती जैसे छबि सहेर लेकर सौन्दर्य विशेष।
नव यौवनकी चपल किरन उर सरस पातसे डोल
नयन-सीम - वेदना - वृक्षकी कटु स्मृतिका नभ खोल

अबला-सी तमसामें पल-पल भाँति-भाँति रँग घोल
ले बढ़ती सौ बार स्वयं अनमोल हृदय-हिन्दोल।
निर्धनताके सकल शिथिल भावोंका क्षण संसार
कर लेता है कठिन सृष्टि मृदुतर अपने अनुसार।

राग द्वेषसे अपनीवाली दुनियाका पथ त्याग
निज अभावमें ही करता है निर्धन जग - अनुराग।
क्या न भिक्षुके भाव सरल पाते दुख बारम्बार
धनी द्वारकी "नहीं नहीं" में पाकर निर्मम प्यार?

बचा वहाँकी मद-सरितामें शेष नहीं कुछ नीर,
सीमित चाहोंकी झुरमुटसे बहता मन्द समीर।
नव युवतीके नव करमें थी एक लकुटिया, और
पीछेसे पकड़े था उसको एक वृद्ध शिर - मौर।

आगे आगे वह जाती थी पीछे पुरुष - शरीर,
माझिन मानो खींच रही हो नैया नदके तीर।
सान्ध्य लोक - सा वृद्ध और बाला थी उषा समान
करुण स्वरोंमें सुता सुनाने लगी हृदय - आख्यान—

"लिए खड़ी हूँ हृदय - व्योमके तरल वायुका भार
कौन कर रहा उषा - वातकी बात हिलोर निहार ?
एक विचित्र दृश्य-सी मैं हूँ, गाता कौन मलार,
क्या न कभी कोई पूछेगा पीर मिली या प्यार ?

देखें क्यों न सुजन नित नूतन इस प्रभातकी ओर
जो आया बन शान्तिपूर्ण जग - दूर निशाका भोर ?
रोम रोमकी सरस - सोम - शुचिताका सुमन बिखेर
करुण-सुरभि दल तुच्छ भाव नव तन आराम सहेर

विकच - बदनकी छविकी है यह नखतावली विचित्र,
मेरी मलिन सरसताकी देखें निश चली पवित्र।
चिन्ताओंसे असित हमारे अरुण नयन रवि बाल
खारे जलके चल निर्झरमें गत होकर चिर - काल

चढ़ी भौंहसी जलद तिलक युत देखे गये न तप्त;
यहाँ साधु - से ही करते हैं मनन सप्त - हय तप्त।
सुनें क्यों न वे एक कुहुकमें कोटि कोकिला गान—
गान न उड़ती द्रुपद सुताकी यह विषाद-स्वर-खान।

श्रम-सीकरका बहा ओस कण रोता है चुपचाप
गगन, दुःख-आतप-वितप्त तनका बढ़ता दिन आप।
वह भी था दिन जब माँकी तारा घुटनोंपर घूम
झूम-झूम कर मातृ-अंकमें नित्य मचाती धूम

और दिखाती थी आँगनेमें मन्द-द्रुत घुड़-दौड़
अपने बिखरे अलकोंकी छायाके पीछे दौड़।
रुनुक-झुनुक-नूपुर-पद, किंकिण-कटि, कंकण-कर, केश
कढ़े, चारु-चोटी-चर्चित चन्दन सुर-सुत। सुवेष

बना, एक तिल दे ललाटपर चूम चिबुक हँस मौन
"गर्व गेहकी जा बेटी," माँ कहती, "तुम सा कौन ?"
किन्तु जगमगे अवतंसोंका माँका वह शृङ्गार
पीत वसन था मुझे न भाता, मैं अपना संसार

अलग लिए रहती थी रच-रच अमर बेलिका हार,
हरे नीमके खरिकोंके तोरोंमें धरकर भार;
और बनाकर मंजु करधनी करके कड़े विशाल
सिर बिन्दी देती थी सुन्दर होता उन्नत भाल।

और अधरसे लगी झूमती नकबेसरसे होड़
लेती थी मधु कुन्दकली, अलकोंमें पाँखें जोड़
सनके फलकी बना पैंजनी मैं तितली-सी डोल,
बड़े बाँसकी बड़ी सुपेलीकी बेनी अनमोल

पहन पलकमें बन जाती थी मैं रानी, तन फेर
देर देर तुम तात और माँ मुझे देखती घेर।
नीले कागदकी डोलीमें गुड़िया-वाला खेल
ठौर ठौरके धूर घरोंमें बाला-बाल झमेल।

जुटी हुई इस पार महलमें जैसे सुर-सन्तान
या कि श्वेत घन-यूथ गिरा चल समझा गगन समान।
देखो पिता! न वह मुकुलित है कली न खिली, अजान
जीवनके पहले प्रभातमें जिसकी मधु मुस्कान

ला देती थी नन्दन वनकी सभी सुरभि इस ओर;
मधुर हासकी परमाशामें घनका ओर न छोर
लगा कभी; पर आज शुष्क तन वन-विटपोंके साथ
खेल खेलना चाह रहा यौवन-वसन्त धर हाथ।

चली अकेली पथमें नभमें चला अकेला इन्दु
गिरि उपत्यकाओंसे होकर छूकर घनके बिन्दु,
मिली अचानक एक राह जिसपर था मिला समूह
सरके तीर; शिखापर चलकर जो तरु तल रच व्यूह

एक रेखमें एक वृत्तमें नाच रहा था फूल,
लोट रहा था वहीं पवन मैं गई देखकर भूल
पलक लगाये खड़ा होगई मैं लोगोंके पास,
लगी सोचने इन खेलोंमें कौन हमारी आस

पूरी होगी या न कभी पूरी होगी मन-चाह
बढ़ा कहाँ वेदना लिये लेकर मैं अपनी राह;
तृणपर शिला शिलापर पड़ती जहाँ कहीं अब लेट
मनमें आता पिता! कभी कर आऊँ उनसे भेंट!

उन सबमें था एक और उन सबमेंसे था एक,
हो आया उसके संग खेलूँ फिर बचपन प्रत्येक।"
बोला वृद्ध, "पिता! पलकोंमें दे चिर-यौवन-शक्ति,
देखूँ यह विरक्ति बनती है किस प्रकार अनुरक्ति।

कैसे मिटता है प्रयाणमें चिर चिन्तन-संयोग
बनता है किस भाँति मधुर फिर यह वियोगमें योग ?
वृन्तोंमें कलिकाको भी रोनेका ही अभिशाप
किस प्रकार रजनी खोती है चन्द्र-परिधि चुपचाप ?

कैसे हँसता है उजड़े उपवनमें सरस वसंत ?
लगता है किस नई कलासे फिर असीमका अन्त ?
बेटी ! है क्या बदल गया यह प्रात और सब बात ?
बढ़कर आज मचाया मेरे पापोंने उत्पात ।

मेरी ही करतूतोंसे बन परुष अन्यकी दृष्टि
पग-पगपर मेरे पथमें करती है कण्टक-सृष्टि,
मेरा ही यह अंध जगत् तेरे जीवनका रोग
कठिन किसी दिन ले बैठेगा तुम्हें हमारा भोग ।

मुझे छोड़ दे मैं जगकी विपदाओंका हूँ रूप
नहीं चाहता रहे पास तेरे यह निर्जल कूप ।"
"तुम्हें छोड़ दूँ किस प्रकार छोड़े घन क्यों आकाश
क्यों छोड़े वह दिव्य भवन रविका यह रम्य प्रकाश ।

नखत छोड़ दे क्यों नभ क्यों मैं और छोड़ दूँ स्वर्ग,
कैसे पंख छोड़ दे पक्षी जन क्यों छोड़े वर्ग ।"
"जीवन देना होगा तारा ! कर्तव्योंका भार
भारी बड़ा हुआ करता है, छोटा यह संसार ।

प्राप्ति कहा करते हैं जिसको वह जीवनसे दूर ।"
"तेरे बिना पिता ! तिल है जग सरस-रास-भरपूर ।'
कहती यों वह गई लिपट अंकममें आँसू ढार;
'सुख क्या है वह पिता ! बताओ, क्या उसका आधार?'

"सुख बेटी ! अपनी इच्छाओंका समुचित संकोच,
और अतुल धन अतुल कामनाओंसे पूरित सोच !"
"तब भी विज्ञ लिये रहते क्यों धनके लिये दुकूल ?"
"हुआ नहीं है मन अंकुरका वहाँ विनाश समूल।"

"रोना है क्या अन्य नहीं मेरी हुँकार समान ?"
"क्यों ! कहता है जग विनाशमय होता मेरा गान।
जब आशाकी गत रेखासे हट स्वप्नोंका देश
कर लेता है बड़ा कल्पनामें अपनी; आवेश

बदले नयमें, नयता हो जाती दाहोंका ठौर,
दिनके बाद निशा आती है शशिके पीछे और
सूर्य दौड़ करता विनाश शीतलताका, उन्माद
मिटता है फिर मतवालोंका। "क्यों हँसता धनवाद ?"

जब न विभव है जगकी सारी आशाओंका मूल
बरसाता है सुमन कहो कैसे यह पिता ! त्रिशूल ?"
"बेटी, हँसी न है विलासमें उसमें ऐसी क्रान्ति
दबी हुई है जबतक इसमें बनी हुई है भ्रान्ति।

छीन-छीन छिपकर चालोंमें मेरा ही अधिकार
मुझपर फिर करता रहता है नित नित अत्याचार।
वह जिसकी है खड़ी हुई पशुता पर ही दीवार
कभी न सुखसे सो सकता है उसपर हाथ पसार।".

"क्यों गिरता है फिर समाजसे मनुज शीलकी खान ?"
"होती उसमें नहीं क्योंकि मानवताकी पहचान।"
"है उसे क्या पतन ?" "नहीं, उनका अपूर्व उत्थान
हो जाता है जब समाज परिवर्तित सत्य समान।

कलुषित जगके बीच भले कुछ हो जाते है गुप्त
पाप भावनाओंके भीतर कुछ पुनीत है सुप्त।
जब देता है बेंच जगत् अपनेको परके हाथ
खो देता है रूप सुजन भी भय-ममताके साथ,

बीज रूप गुरुता प्रभावकी बच रहती है पास
छिटके तारोंमे भी मिलता है दिनका आभास।
वही तेज अवशेष किरन तेरी कुटियासे झाँक
भर देगी घर तेरा तारा! तेरी धूलें फाँक!"

एक स्वर्गकी झलक मिली बन गए वृद्ध सुरराज;
ललचाई आँखोंसे पाया तारोंने सब राज।
सुलझाकर तारोंकी अलकावलियाँ और उसाँस
एक खींचकर कहा वृद्धने "बेटी! हो न उदास।

सात वर्ष हो गए किए सुन्दर सुबोधको स्नेह
और जलरहित हुए आज हैं ये आँखोके मेह।
देखा है तुमने समूहमें सब-जनकी प्रतिमूर्ति
या देखा है तुमने आने सम्मुख अपनी स्फूर्ति।

बेटी! आँखें गईं और अब चलनेमें असमर्थ
नित्य-नित्य बनता जाता हूँ; इस जीवनका अर्थ
समझ न पाया; किन्तु अभी कितने दिन जीना शेष
मुझे और है जगमें इसका रहा न ज्ञान विशेष।

कितने योंही गए पहुँच कितनोंको योंही आज
भली बनी छाया, कितनोंके पलकोंका सुख साज
बना मधुर मायामें पर अपनेमें अपना गीत
सुना किसीने कभी नहीं सुनतोंके हो विपरीत,

चलता है शीतल समीर मन्थर गतिसे दिन - रात
जहाँ सहम कर ही सदैव। यह तो है अपनी बात
और विश्वकी यही कहानी, किन्तु भ्रमरका गान
एक तान है उस अन्तरकी जहाँ सुमन पहचान

हुई और जो मँडराता है उस पथसे हो दूर
जहाँ जगत् जाता है आता है सुमनोंको घूर
घूर, देखकर तोड़ पलकमें देता है वह फेंक
उसे जिसे संचित करता था व्यक्ति भ्रमर-सा एक।

आशाओंका दीप लिए घूमूँ मैं दर - दर आज,
करूँ खोज इस अंधनिशामे किसने पाया राज।
खुली हवामें दिवस चमचमाता लेकर कर श्वेत
मिले न रविकर एक हाय सूखे जो दुखकी रेत।

अब अलिके गुंजनमें पढ़ना है यह जगत् - रहस्य
मनन - गुननको छोड़ यहाँ है और कौन - सा तथ्य!
अतः बना लो थल अपना कोई रमणीय विचार।"
"जो कुछ कहो पिता इस बेटोको सब कुछ स्वीकार।"

"छोटी - सी हो कुटी कहीं बेटी सरिताके तीर
जगका कोना छान - छानकर आता रहे समीर
कहता रहे जहाँ नित क्या उसके चलनेमें भ्रान्ति
या चलकर थककर पायेगा कोई अनुपम शान्ति।

भीतर कुछ ही शुष्क - पत्र हों कुछ सूखे जलजात
अपनी बात कहूँ जिनसे कुछ पूछूँ उनकी बात।
देख चुके हैं वे कितने जाड़े - गरमी - बरसात,
देखे हैं उनके नव रूपोंमें कितने दिन - रात।

बाहर द्रुम हों हरे - भरेसे फूले - फले सगन्ध
जहाँ चह - चहे रंग - बिरंगे विहगोंका हो संग
उनसे ही नित हँस लो, बोलो, खेलो; बेटी ! प्यार
करो इन्हीं वनके तत्त्वोंसे, लिखो पढ़ो संसार।"

षष्ठ सर्ग

"अमर बनेगा माँ ! यह दिन मेरा मैं जिसकी बात
आज कर रहा हूँ तुमसे कितनी सुन्दर यह रात।"
"बेटा ! मैं वह दिवस मनाऊँगी तेरा प्रतिवर्ष
जिसमें तुमको एक पलक भी मिला अलौकिक हर्ष।"

"तुम्हें ज्ञात है जननी ! लाने जाता हूँ मैं फूल
प्रात और संध्याको चलकर सरवरके उपकूल।
गया आज संध्याको माँ ! मैं सरके उत्तर ओर
मचा हुआ था बड़े वेगसे जहाँ खगोंका रोर।

भाँति भाँतिके खग चलते थे भाँति भाँतिके चाल
नभमें पर फैलाकर अपने सुन्दर पीले लाल।
रविकी पिछली किरण जा रही, उसकी सुनी पुकार;
उलट - उलट देखा मैंने, मेरा था उससे प्यार !

मैं रोया, अनुरोध किया, सखि, रुको, न पाई माँग;
आँसूसे आँखें रक्तिम कर, अधरोंमें भर राग
कहती ही वह चली जारही मैं सुनता था बात
'आ जाऊँगी प्रथम रश्मिमें आ जाने दो प्रात।'

फिर देखा मैंने प्राचीमें गजका एक समूह
हाँक रहा था पवन गगनमें घन, निश अपना व्यूह
अब रचने वाली थी; मैं था किये विहगसे प्यार
सोच रहा था चुन लूँगा मैं वहीं सुमन दो चार।

मैंने वनमें घूम - घूमकर सखा भ्रमरके साथ
देखा लाखों पुष्प खिले, जिनपर तितलीके हाथ
अभी घूमकर उठे हुए थे। क्या लूँ इनको तोड़ ?
एक कली सिसकी पीछे देखा मैंने मुँह मोड़;

एक मलिन-सी लता हँसी तिरछी आँखोंसे देख,
आजीवन प्रिय बना सुमनका। मैंने लिखा सुलेख
अब हम तुम मिलकर देखेंगे यह तमका संसार।"
भूल गया था मुझे बनाने थे मन्दिरके हार।

नई निशा आई जलदोंमें बन काली सुकुमार
बहन एक पानीके मोतीका लेकर उपहार
मैं चम्पकको छोड़ भींगता गया सघन तरु तीर,
जिसके पत्ते प्यास बुझाते थे; वह युवक समीर

झूल - झूलकर खेल रहा था गलबाहीं बेमोल
मोटी पतली शाखाओंसे; तरुकी बूँदे डोल
टपक-टपक नीचे गिरती थी, मैं रञ्चक अनमोल
नभके मोती लूट रहा था; वह बिजली हिल डोल

घनमें छिप जाती थी जैसे भील सुता - कुछ बोल
दसन छिपा लेती है काले मुखमें आभा खोल।
खोज रहा था रवि - मरीचि मैं खड़ा खड़ा चुप चाप
फिर हरने आई मेरी माँ ! वह मेरा सन्ताप;

उड़ा क्षितिजमें रंग बसन्ती तरुपर थलके पास,
छबिसे पलमें तीन रेख खिंच गई गगनके पास—
हरी लाल पीली सतरंगी, और कोकिला हास
वहीं व्योममें हुआ कहींपर इन्द्र - धनुषके पास।

श्यामाके नक्षत्र श्वेत शुभ दिनके तारे श्याम
काक और पिक निकल चले करते स्वर मधुर ललाम;
सुनी नई बोली मैंने मधु - कुञ्जोंकी ओर
लगी सुनाने गान महुकली, फिर श्यामाका रोर

हुआ कुन्दपर; गये जलद, नाची किरणें रच रास,
एक बार बिछ गये पुनः सोनेके दाने पास।
बूँद - बूँदमें घासोंपर, उड़ गये जुलाहे बीस
बीस; बैठने लगे हरे गेंदे पर, आँ मैं शीश

अभी झुकाये हाथ बढ़ाये जाता था उस ओर
उन्हें पकड़ने; कहा किसीने पीछेसे, "रे चोर, !
ये छोटे जीवनवाले हैं इन्हें बनाना खेल
दुख पहुँचा कर कभी नहीं, मीठी - सी सुधा उडेल !"

माँ ! मैंने मुड़कर देखा वह भोलेपनका रूप,
एक कुमारीमें पाया था, मैंने आत्म - स्वरूप।
वह सरके तटपर गाती थी शुभ संध्याके गीत
लहरोंसे ले स्वर उधार नभ - चरको दे संगीत।

पीली - पीली सांध्य रश्मिने दिया उसे था वेश
खिंचे हुए घनकी पतली रेखाएँ बिखरे केश
खेल रहे थे व्योमाननमें एक मलिन - सा वस्त्र
झूल रहा था बन त्रिशंकु कटिमें, आँखोंके अस्त्र

इधर उधर चलते थे करते थे मनोजका अन्त,
चंचलता - सी नाच रही थी हरिणीकी - सी सन्त
वे बचपन - सी आँखें देखीं, वे बचपनसे हाव
और सरलता - सा बूढ़ा - केसे वे गहरे भाव।

"क्यों प्रिय! कह न सके थे कुछ क्या सुन न सके थे और?
क्या थी? किसके उपवन के आमोकी थी वह बौर?"
"माँ! मैं दौड़ गया था पलमे उस देवीके पास
भाग गई थी वह उस थलसे पर, करने उपहास

जैसे मेरा; निकल गई थी चौड़े सरके बीच,
जहाँ भूमि उभरी थी कुछ, उसको जा जलसे सींच,
सींचा फिर अपने अलकोंका, मुँहमें लेकर नीर
सरसे सरमें फेंक रही थी, मैं था सरके तीर

खड़ा हुआ; वह देख रही था फिर मेरी ही ओर।
मैंने कहा, "गई क्यों जलमे, तुम तो रहो न चोर?"
वह बोली, "तुम पकड़ रहे थे वह छोटा - सा कीट
परवाला, मुझ बेपरवालोंका छू ला, न किरीट

तुम होगे शाखाके, मानसके होगे हनुमान,
मैं न बनूँगी जलनिधिकी सुरसा, मेरा पहचान
सरकी मकरीमें होगी; ये कमल सुलोचन वृन्द
वन - देवीके हैं, आओ; देखो लो परमानन्द।"

"अरे! बड़ी भोली थी, छबिवाली थी, गुणकी खान;
मुझे जान पड़ता था उससे थी मेरी पहचान।
मैं कूदा जलमें संध्यामें रोके थे जलजात
पथ मेरा, मैं उन्हें हटाता बढ़ता जाता; गात

अब थकने वाला था पलमें पाया छोटा द्वीप;
किन्तु न पाया अरे वहाँ उस नीले सरका दीप।"
"बेटा, वह छाया थी क्या ढकती है नित्य प्रकाश
जो विचारका, बन जाता है विश्व समयका दास;

अथवा थी अप्सरा किसी नन्दनवनकी सुकुमार
सुनती हूँ पढ़ने जो आती हैं मेरा संसार;
या वह संध्या ही थी सरमें जिसकी छविकी भीख
माँग रहे थे घूम - घूम तुम, तुम्हें मिली यह सीख—

'सुन्दरताकी विजय, विचारोंकी होती है हार;
जहाँ लगन है वहाँ न लगती बाजी बारम्बार।
खो देना पड़ता है अपने यौवनका संसार,
परम रम्य है पावन जगकी सुन्दरतामें प्यार।'

"माँ! वह माया थी; छाया थी नहीं, परी न, मरीचि
थी सन्ध्याकी छिपा हुई छिपते जलजोंमें, वीचि
कभी - कभी ढक देती थी मुख उसका प्रलय समान,
फिर पत्तोंपर वह आती थी छवि-शिशु श्याम महान्।

चिर - कामना महानार्णवके अक्षयवटपर डोल
सरस सृष्टि देखती पलक दो नयन अलकसे खोल।
छू न सका, मैं हारा, छूकर स्वयं गई वह हार,
देखा पीछे खड़ी हुई थी पलमें हाथ पसार।

कब कूदी? कब कहाँ गई? कब आई मेरे पास?
वह कोई मंजुल चपला थी जो रहती है पास।"
"बेटा! वह है शैशव और शिवा है निधि - अवतार,
तुम रीझे तो क्या रीझे? रीझेगा सब संसार।"

"मैंने पूछा—किस थलकी रहनेवाली हो? वेश
किस माँसे पाया है यह? पाया है चंचल देश
किस पटुतासे और कहाँसे सीखा है यह ढंग?
किस वैभवपर फूल उठा है तेरा अतुल उमंग।"

वह बोली "जगमें न हमारा कोई घर है एक,
मैं जननी-हीना हूँ, रखती हूँ किंचित् न विवेक.
यह सर मेरा, मैं हूँ सरकी, ये उपवनके फूल
फूले मेरे हैं, मैं इस उपवनका फूला फूल।

चह-चह करता यह चोंचा दल मेरा है परिवार
और हरे नीले पत्तोंसे होता है शृङ्गार।
सीखी है चंचल हरिनोंसे मैंने अपनी चाल,
और सिखाये हैं हँसना ये सरके मृदुल मराल,

साँसोंसे उस अगर पिताने फूँके है प्रिय प्राण
इस उरमें उसकी छाया है इस जीवनका त्राण।
तोड़-तोड़ कोमल पुष्पोंको मैं रचती हूँ हार,
यह छोटा-सा क्रय-विक्रय है, मेरा कुल-आधार।

मैं हूँ अपने वृद्ध पिताकी विभव-भरी सन्तान,
वे इस प्रकृति-सुताके हैं साकार सगुण भगवान्।"
"बेटा! क्या उसने भी पूछी तुमसे कोई बात?"
"नहीं, कहा उसने—जाऊँगी अब मेरा पथ तात

खोज रहे होंगे, न करूँगी अब मैं तनिक विराम।"
चली गई अवशेष रश्मि निशमें लेने विश्राम।
हाँ, माँ! और कहा था उसने—'तुम आना प्रतिवार,
हम गोधूलीमें देखेंगे नभका यह आकार।'

"प्रिय ! ले जाना कल संध्यामें यह भूषण - उपहार
और वस्त्र जिसके सूतोंमें बँधा हुआ है प्यार
तेरी माँका, जिसमें सिमटी मेरी ममता श्वेत।
खालो और चले जाओ सुत ! देख रहे हैं खेत

तेरे पिता निशामें, सोना वहीं हमारे लाल
जो कुछ कहें ध्यानसे सुनना कहना अपना हाल।
वे किसान हैं पर अपनेपर करते हैं अभिमान
और समयकी गतिका उनको है समुचित सब ज्ञान।

मिट्टीमें पाया जिसने है मानवताका रूप
रज - कणमें पाया है जिसने श्रमका शुद्ध स्वरूप;
गाया है जिसने मसूरमें सामवेदका गान,
जिसने है चेतना जगाई स्वर्ण चनेके मान,

ममता मिली मटरमें जिसको राह रहरके तीर
जगा ज्ञान जौसे जिसका, सरसोंका सरस समीर
भरता रहता है जिसमें नरताके प्रति नव राग,
पावन पाट - पुष्पमें पाई जिसने जलती आग,

जली जहाँ जिसकी ज्वालामें पशुताओंकी शक्ति
उठी अँगारोंसे अम्बरमें भव्य भावमय भक्ति।
कहता जिससे कई कहानी वह कमनीय कपास
जिसके अंचलमें अटका है जगका विभव सुप्रास;

तागे - तागेकी रग - रग में अमर तंत्रका स्रोत
स्रवित सदा होता रहता। नभके वे सब खद्योत
खग-खगके तिमिरांध नीड़से सुन आते जो बात
कह जाते जिससे, जगता जो, जब सोती रात।

ढोता है पृथ्वी पंजरपर; वह युग - युगका मान
ढोता है उरके स्तर-स्तरपर वह है चतुर किसान।
वे हैं तेरे पिता, वही हैं तेरे रम्य विधान
सुमन - सुमनका कर संचय जो हैं बन गये महान्।

वे न कभी लगते हैं प्रिय ! इन छल - छद्मोंके हाथ,
हाथ बँटाते हैं पर सबका सुखसे देकर साथ;
परका सुख उनका सुख है परका दुख उनका क्लेश,
वही करेंगे आलोकित प्रिय सतत तुम्हारा देश।"

सप्तम सर्ग

"जागो-जागो हृदय ! करे तुमसे भी कोई प्यार;
तुमने फेंके रजत; चन्द्र कूदा करके शृङ्गार
नभमें, फेनिल श्वेत जलधि जम गया धरापर, देख,
हिममय-निशा-रश्मि आई, तरुवर हिमगिरि शालेख

बने; उठो हे हृदय ! करो कोई भी ऐसा खेल
प्यार करे वह भी जिससे है बँधा तुम्हारा मेल
कहीं समयके अनजाने कोनेमें। मत उद्भ्रान्त
बनो। बड़ा अवकाश मिला है, यह सुन्दर-सा प्रान्त

सदा रहेगा, तुम न रहोगे। देखो किसके राग
बनते हो तुम इस रजनीमें, हृदय ! उठो तुम जाग।"
जाता था नवयुवक जहाँ थे उसके वर प्रिय तात,
जाता मगमें सोच रहा था उपवनकी ही बात—

"मातृ विहीना वह बाला थी, और मातृका अन्त
उसी भाँति तो इधर हुआ है; यह अभिनय ! हा अन्त !!
जाग-जागरे हृदय ! जाग लेकर संस्मरण महान्
और तान दे विस्मृतिके नभ–में तू एक वितान,

पल-पलका बीता जीवन पुतली बन आज सदेह
रचे रास, नाचे हँस-हँसकर इसे समझकर गेह
गाये गान मातृ-गुणके; मेरे सम्मुख सम्मान
और सुदुर्लभ मातृ अंकके दिव्य ज्योति क्षण मान

पायें और कह उठें ये सब स्मृतियाँ अभी पुकार,
'बचपनमें तेरी माँका तुमपर था मधुमय प्यार।
जननी सदा दिया करती थी सुतको ऐसे राग
जग-जननी-सा तुमपर ऐसे वह करती थी त्याग!'

अमरबेलिके जालोंमें विधुकरका जाना : देश
एक बड़ा सुन्दर है रखनेवाले ऐसा वेश
रे उलझेसे केश! बतादे; उस करका क्या रूप
रहा कभी, जिससे सुलझे थे बचपनमें। मैं भूप

रहा कभी अपनी निधिका। माँका मीठा मनुहार
अब न कभी स्मृतिमें आता है भोलेपनका प्यार।
कैसी थी माँकी दुनियाँ? कह दे नैसर्गिक - स्पर्श!
[उन अधरोंके अधरोंसे] जब अभी न मेरा वर्ष—

तक पूरा हो पाया था। कहदे दसनोंके चिह्न!
मेरे इन सस्मित अधरोंपर तुम न रजतसे भिन्न,
कह दे कैसी थी द्युति, उनमें था कैसा ऐश्वर्य
दसन खिल-खिलाकर मुझमें जब भरते थे कर्मण्य।

मनवाली माँकी उरवीणाके सीधे झङ्कार
चुम्बन! इन गालोंपर अनलसिताके तुम उपहार
स्नेह सरितकी लहरोंके चुम्बन! तुम करुण करार—
दे सकते हो उस छविकी आभा—जिससे साकार

बन बल खाये थे कानोंके नीचे होकर फूल
सुन्दर लेकर रूप सुनहला बन कानोंके फूल ?
अधरामृत ! मेरे प्रभातमें ऊषाकी मुसुकान—
माँकी—कैसी थी कुछ कह सकते हो ? वे अभिमान

मेरे शैशवपर कैसे थे ? दीप शिखाधर वात
जब हूहू कह स्वर भरता था मुझ अंकुरकी बात
मत पूछो, वह देख रहा था ऊँचे नभकी ओर
मिले नीर ! यह वज्रपात कैसा ? तुम तमकी ओर

दिये गये थे खेद मिला है यह नवजीवन आज।
तुलसी बोली कहाँ गई ? यह अनुपम एक समाज
मिला मुझे। अब तो लाना है सारा विभव समेट
कर देना है आज नई माँको वह सब कुछ भेंट !

कुछ लौटा दो कर्ण ! मधुर स्वर माँकी स्मृतिसे हार
जान सकूँगा कल जिससे भोलीका स्वर-संसार !
एक पिता थे वृद्ध हमारे भी बचपनमें, काल
गया पहुँच अज्ञात कौन ? उठ गया विभव तत्काल !

जाने कौन व्यथा आई थी उलट गया था व्योम,
अंधमार्ग बन गया हमारा कृष्ण हो गया सोम।
पृथक हो गया मेरा मुझसे वह स्वर्गीय प्रकाश
आलोकित था मेरा जिससे गौरवमय आकाश।

और बहन थी तारा मेरी अब उसकी भी आयु
वही हुई होगी यदि जगका सुन्दर मीठा वायु
उसके अन्तरमें जाकर भरती हो मधुर उसाँस,
सिहर-सिहर आती होगी यदि सोधे उरसे साँस।"

यहीं सोचता पहुँच गया वह स्थित था जहाँ कुटीर—
जहाँ झुरमुटोंके आँगनसे आता सरस समीर
चीर-चीर गेहूँ जिनपर नाच रहा था चन्द्र,
और नाचती थीं बालोंकी परियाँ, जिनपर इन्द्र
होकर सतत विमुग्ध लुटाता था जल-कणके दाम,
लेट रही थी वहीं ज्योत्स्ना अंकमें भर काम।
चला क्षितिजसे इन्दु रजतके अपने विभव बटोर
आने लगी घड़ीमें घर-घर शून्य निशा घनघोर।

अब सो जायेंगे खग, सोवेगी यह प्रकृति, प्रदीप
नभका स्वयं बुझाकर; तममें ले कानोंके दीप
खोजगे ये कृषक अकेले हरहे* जो दो चार
आयेंगे खेतोंमें, गायेंगे बिरहे सौ बार।
मारो, पकड़ो, उधर गई, हट-हट खेदोंके बोल
बोल-बोल सोकर जगकर देंगे निश बिता अमोल।
कभी-कभी दो जन मिलकर तारावलियोंके साथ
हँस-हँस किलकारी मारेंगे बजा-बजाकर हाथ—

'यार! न उससे कह पाता हूँ अपने जीकी बात
व्यथित हृदय लेकर फिरता हूँ गली-गली दिन-रात।
मूक तपस्याने खिचना है देवगणोंका ध्यान,
कभी प्रेयसी तो दे देगी मुझको भी वरदान।
और दूसरा याद करेगा प्रिय सुहागकी रात
किस प्रकार थे बीत गये दो घड़ियोंमें दिन सात।
बोल उठेगा वहीं कहीं तीसरा स्वरोंको साध,
अरे प्रणयमें छिपा आया था कौन न जाने व्याध!'

---

* हरहे—स्वामीविहीन पशु।

भूल जायँगे फिर वे सब अपना - अपना संसार
बोल उठेगा साँड़ कहीं जब तममें कर हुँकार।
खेद उसे फिर जुट जायेंगे, निज घर - घरकी बात
कहें सुनेंगे सब हिल - मिलकर और सुनेगी रात।

आँखोंके नभमें छल - छल पानीके बादल डाल
आतुरतासे और हथेलीपर जब धरकर गाल
एक कहेगा, 'दवा बिना मेरा सारा परिवार
धीरे - धीरे देख रहा है नित यमपुरका द्वार;

किन्तु मुझे देना पड़ता है रो - रो हरे! लगान
और सदा खोना पड़ता है मुझको प्रियतर मान।'
तब भर्राये स्वरमें वह दूसरा कहेगा 'बन्धु,
सदा उमड़ता जाता है रह - रह मेरा दुख - सिन्धु!

पशु मर गये महामारीमें मैंने लेकर कर्ज
काम चलाया था खेतीका अब यह ऐसा मर्ज
बढ़कर है हो गया दवा जिसकी मैं पाता हूँ न;
रग - रगमें वेदना समाई है चल पाता हूँ न।'

'पर क्या मैं सुखिया हूँ?' फिर तीसरा उठेगा बोल,
घन आते हैं मेरे घरमें नभका फाटक खोल।
नदिया बहती है खटिया - तर, हम दोनों सब रात
इधर उधर होते रहते जब आती है बरसात।

दे - लेकर जो कुछ बचता है खानेका सामान
कठिनाईसे ही उठता घर बनेनेका अरमान!
इच्छा ही इच्छा रहती केवल, मैं हूँ दिन - रात
सोच-सोच रहता, जाते जाड़ा - गरमी - बरसात।

खेतोंसे जागेगी तबतक अनुपम एक बहार
जिसपर ये तीनों जायेंगे अपने सुख-दुख हार।
कभी-कभी कोकिल बोलेगा बोलेगा वह व्योम
स्वयं दिशा गायेगी गुन-गुन झन-झन पीकर सोम।

उसने कहा, "पिता मैं आया तुम सो जाओ, आज
रखवाली करनेवाला मैं सीखूँगा यह काज।"
"बेटा! तुम आचार्य हो रहे हो, जीवनका अंग
एक प्रकृतिमें है भूला खोजो उसको; है संग

अच्छा इन्हीं किसानोंका जिसमें तेरा भवभूति
छिपा हुआ है; व्यास-कपिलकी है जिसमें अनुभूति।
कौन समझ सकता है जगमें दीनोंका अभिमान
गाते हुए खुले खेतोंमें कितना सुखी किसान।

समझ नहीं पाया है जैसे उसने भवकी रीति
जिसके लिये न जीवन कुछ है और एक है गीत।
एक ओर है धूप नाचती हरियालीपर झूम
और दूसरी ओर प्रियतमा सोह रही है घूम-

घूम। उठाकर रख देता है वट तृणोंका भार
सिरपर उसके, चल देता है लेकर पतिका प्यार।
यह सुखका जीवन है छोटा यहाँ न कुछ है भार,
भर दो इसे भले भावोंसे गा लो सुगम मलार।

मरण न जीवनका अन्तिम दिन पर उसका है अन्त
अन्त मरणका, सूखे वटका जीवन बीज,—वसन्त
फिर आयेगा, भर देगा इसमें अनुपम अनुरक्ति;
पावसकी बूँदोंको छूकर फिर आयेगी शक्ति—

इन बीजोंमें वट आयेंगे; हरे लाल नव पत्र
वसन रुचिर होंगे, छवि-मणिका और जगमगा छत्र
रुचिर - रुचिर विस्तृत नव शाखाओंका नव शृंगार
होगा। बिक जायेगा जिसके फलपर द्विज-परिवार।

एक - एक खगकी बोली चुम्बन होंगे, मधुमास
नाचेगा निशमें किरणोंसे नव किसलय पर! हास
और रुदन क्रन्दन आयेंगे; इस जीवनपर जीत
पा लेनी है हँसते - हँसते कभी मरणको जीत।

चुम्बन लेता हूँ रज-कणके मुखका मैं दिन - रात,
रज मेरा श्रम-फल है, रजसे घटकर मेरा गात।
जो कुछ मैं कहता हूँ रोकर उसमें लेश न अर्थ,
सूखी हुई उपजसे जाता वायु थिरकता व्यर्थ।

मैं वह आकृति हूँ, जिसका है आज न कोई रूप,
मैं वह छाया हूँ, जिसमें है रंग न और स्वरूप।
वह गति हूँ जिसमें पाता है विश्व न कुछ संकेत,
उमड़े नदपर बना हुआ है मेरा करुण निकेत।

वे समझें जो देख चुके हैं परिवर्तनका खेल
अब चलनेवाली है मेरी धक-धक करती रेल।
मैं न पतित हूँ, जन हूँ; कुछ है मेरी भी अनुभूति
समझ सका था नहीं किन्तु मैं अब तक आत्मविभूति।

नये विचारोंकी रणभेरी फूँको जगमें आज,
न्याय नियम श्रद्धापर होवे खड़ा नवीन समाज।"
"समझ गया मैं पिता! मनन-गायन जीवनका तत्त्व
और विषमतामें न कभी मिल सकता है यह तत्त्व।

मैं गाऊँगा गीत; मुझे भी गानेका अधिकार
मिला एकसे, जगके जलमें मेरा जल है; प्यार
करना मैं भी जानूँ प्रियको; जानूँ मैं अनुराग,
और खेलना प्रकृति-पुष्पसे मैं भी जानूँ फाग।

पर क्या मेरी ही सन्तत होती जायेगी हार,
सदा रहेगा पड़ता कृपिपर मेरी कहो तुषार?
सब कुछ लेकर एक बना है जो, उससे कुछ छीन
खाऊँगा मैं भी, वह देखे अब न बनूँगा दीन।

वह न बनूँगा मैं पर उसको भी अपना ही जान
गाऊँगा वह भी गावेगा मेरा ही मृदु गान।"
"देखो बेटा! तारे ढलके बहुत गई अब रात
ये पशु अनजाने करनेवाले हैं अब उत्पात।

तुम जाओ उस कोनेमें मैं देखूँ यह सब भाग;
करें विचारे ये पशु भी क्या लगी उदरमें आग।
जबतक रहे समर्थ स्वार्थने पाया इनमें अर्थ,
जब आई है जरा, जरा रखना समझे हैं व्यर्थ।

छाया-पथमें भूल गया है नर अपना आलोक
जब, तब ये तो पशु हैं इनका भी होता है लोक।
मैश गगनमें ये तृणचर हैं, नर हैं निशमें चोर,
'तब मानवता पशुतासे बढ़कर क्यों?' आज चकोर

पूछ रहा है रजत चन्द्रसे कर छविका मधुपान।
सुनता हूँ मैं प्रिय कीटोंमें एक मधुर-सा गान।
एक रात देखी, जिसमें पाती है चकवी कन्त
मैं उस पथसे गया शीत बन गया तुरन्त वसन्त;

मादकता कर दूर सरितमें प्रिय प्राणोंकी बात
करते हैं वे भूल गये हैं यह दिन है या रात।
हरी-हरी घासोंपर कूदें मृग ये निकट सुदूर
मुँहमें-मुँह नित मिला रहे हैं। यह जीवन भरपूर

तरुकी डालीसे मिलता है, सीखे क्यों न समाज
क्षणिक कलहको छोड़ क्यो न वह भागे वनका राज?"
"पिता! अभी देखा है मैंने एक अलौकिक चित्र,
कलाकारकी कुशल तूलिका, जो है सतत पवित्र

स्वयं उठी भरनेको जिसमें शत-शत सुन्दर रंग—
जिसके अधरोंके हिलनेका एक मनोहर ढंग
देखा है मैंने, मृगने, खगने। उपवनके पात्र
सभी एक अभिनय करते हैं बना एक-सा गात्र

वह उनकी रानी है; ममतामें उसकी है शक्ति,
हरे और बिखरे पत्रोंमें है उसको सम भक्ति।
जर्जर जनक जरावाला है वयवालोंका स्तम्भ
और बनी बाला है बूढ़ेकी कुटियाका खम्भ,

पिता, स्वयं वह सुन्दर है रचती है सुन्दर हार;
क्या न हमारी मूर्ति करायेगी उससे शृंगार।"
"क्यों, प्रिय! कह देना संध्यासे लायेगी वह फूल,
सीख सकेगी बहुत कला वह प्रेमाके उपकूल।

वह विशाल मन्दिरवाली है, इस मन्दिरका राज
क्यों न करेगी? उसके हित भी है यह मधुर समाज।
मैं ससंघ करनेवाला हूँ खलताका उपचार;
अब न कपटमय होगे इस मानवताके व्यवहार।

बन जाओ उस वृद्ध देवकी तुम भी प्रिय सन्तान,
सेवाओंमें ही समझो सन्तत सादर सम्मान।
प्रिय ! देखो यह भैंस आगई; करो इसे उस ओर।
इन चोरोंके साथ तुम्हें भी बनना होगा चोर।"

पोछा करते - करते वह था निकल गया कुछ दूर,
तम प्रकाश दोनों थे तरुतर-तरु बन गया मयूर;
श्वेत श्यामसे चित्रित - तल पल-पल-चंचल-कल-पंख
मन-मोहक थे, कणित शिखा केकी कर उठा असंख

सन - सन बहता पवन खड़खड़ातीं पत्तियाँ हजार
टप-टप गिरतीं थी क्षण-क्षण हिल-हिल लम्बी-सी डार
हृदय हिला देती थी; कम्पित था कम्पनसे शीत
दसन कटकटा कर गाते थे कैसे मर्कट - गीत।

छाया - सी थी मूर्ति वहीं शाखाका ले अवलम्ब
खड़ी हुई तरुकी डालीसे बोल रही थी, "अम्ब !
अब न करूँगा कभी कहीं कोई मैं अत्याचार !
भूल गया था रे किसलय ! करना मैं तुमको प्यार।

अधरोंकी लाली तुममें है उरका सरस विकाश
अंध पंथ था मेरा, तुममें है स्वर्गीय प्रकाश।
अमर तुम्हारी छवि है रे नभके नव नखत - प्रसून !
नभमें है, उड़ गया हमारे ही घरका यह तून।

बढ़ा, टकटकी उधर लगाये समझ तुम्हें नभ-तून
चुभे निशामें कण्टक मगमें कोटि, गिरा है खून।
सुप्त जागरण बना, किन्तु तुमसे मिलकर अवदात
और प्रात्वर हूँ, अब मेरा धन है सायं - प्रात।

बढ़ूं अमर - पद ! पथपर तेरे आज प्राप्तिकी ओर;
देख सका था नहीं मलिन-मनभीरु सुगम-पथ-छोर !"
स्वरमें था अनुभव गत जीवनसे पाई थी आह
भूत निराशामय, भविष्यमें था जीता उत्साह

पशुका पीछा छोड़ नवयुवक बढ़ा मनुजकी ओर;
वह असमयका वचन—मचाये था अन्तरमें शोर।
उपवनमें, निशिमें, तममें तरुतर निर्जनमें पूत
भावोंका गायक क्या था ? था कौन ? रहा अवधूत

या पिशाच था, प्रेत था, कि था उसका मनोविकार
सुनता था या वह विस्मृतिमें अपनी आत्म-पुकार !
भाँति भाँतिके प्रश्न उठे, थे तरह - तरहके ध्यान
आये गये बने बिगड़े। वह करने लगा बखान—

"भूत न ऐसी वस्तु बटाये जो वह मेरा भाग्य।
वह है केवल भीरु कल्पना अंध जगत् है त्याज्य।
यह पागल है नहीं गलीका जिसपर पड़ती धूप
और गया जो सुख - दुखकी माया-ममता सब भूल;

सो रहता है कहीं बिना खाये, अनसोचो भूमि
ऊँची नीची शैया होती और चेतना - ऊर्मि
बन जाती है बंजर वन होता है रुचिर शरीर,
खड़े खड़ेसे रोम बड़े सोत्सम हैं, वट हैं, चीर

फटा पुराना है वल्कल चीवर है चीना, चर्म
धूप - शीत सहते - सहते गजका है हुआ; न मर्म
समझ रहा हूँ, क्या वह भी है कोई दुखी किसान
जो पागल चेतना - जन्य है, हुई न है पहचान

इन गाँवोंमें कभी किसीसे, या है व्यक्ति महान्
यह कोई पिछली हारोंसे जो लेता है ज्ञान।"
पूछा उसने; "रिक्त निशामें बोलो तुम हो कौन ?
यह निर्जन क्यों बना हुआ है तेरा निर्भय मौन ?"

"रिक्त न है यह निशा, भरा है इसमें अजर अनूप;
तम - प्रकाश ये छाँह - धूप हैं रात - दिवसके रूप।
उपल शीतमें कोमल पथमें, पावसका यह मेह
गगन लगा प्रासाद हमारा; वह कुटिया है गेह।

यह गरमीकी प्रखर धूप है शरद-चाँदनी पुंज
यह तरुमें छनता प्रकाश है मरमें शीतल कंज।
मैं धनपति था और हमारा धनपति ही है नाम;
नित्य किया है मलिन विश्वका सब वैभव अभिराम;

मैंने समझा कभी नहीं दीनोंमें है मनुजत्व
और अपर सेवामें मैंने पाया कभी न तत्त्व।
मैं था धनी, जगत् था निर्धन, अपने सुखमें नित्य
सुख पाता था जगका मैं, थे सभी पड़ोसी भृत्य

मेरी पशुताके बन गये, न थे भावोंके दास
मेरे यहाँ बन्धुताका होता था नित उपहास।
मानव था मैं नहीं, दनुज था, बल था अत्याचार,
मैं प्रसन्न होता था जब मचता था हाहाकार।

मित्र न था मेरा कोई अवगुणके थे जो मित्र
वे भी हित रह सके नहीं जब मन था बना अमित्र।
क्रीत दास बन गया वासनाओंका मैं अवसन्न,
हुआ नगण्य निलयमें, मैं रह सका न कभी प्रसन्न।

प्रणय-सूत्रका समझा ही था मैंने नहीं विधान
किन्तु विलासोंका था मेरा अलग एक विज्ञान।
मैं कामी हूँ, परम पतित हूँ क्या हूँ क्या न, कहो न,
जो कुछ है दयनीय उसे आग्रह है कभी सुनो न।"

"आप बड़े हैं बड़ा वही है जो करता स्वीकार
निज अपराधोंको, देता है जो निजको धिक्कार।
पापीमें भी पा सकते हैं हम पुण्योंका ढेर,
कीटोंपर जीनेवाले खंजनका है शुभ फेर।

दर्शन प्रिय है नीलकण्ठका हरिजन है रैदास
मैं नित ही जाता हूँ अवगुणमें भी गुणका दास।"
"मैं हूँ बधिक और हत्यारा मेरा उर है शून्य
अब न बचा है कहीं एक थल जहाँ रहेगा पुण्य।

बढ़ा पाप इतना मेरा मैं गया अगम पथ पार
सुनी अनसुनी सुजन सीखकी उमड़ा पारावार
मेरा, जिसमें बही तरी सारी सुख सम्पति लाद
एक दीन दम्पतिकी, तलमें बैठ गई पलवाद।

गगन एक विषका प्याला था नखत चन्द्र दो बूँद
पी-पी उलट गई कोनेमें थी वह सती। न सूद
दे सकता हूँ उसके शमका, अब जीवनमें धर्म
जो कुछ कर सकता हूँ मैं उससे न बनेगा कर्म।

अगम यातना-भोग न होगा यमका पुष्कल दण्ड;
गिरे हिमालय सिरपर होगा कभी न पर सिर खण्ड।
वज्र न कर सकता है मेरी पाप-पसलियाँ चूर्ण,
हो जाने दो उन्हें इसलिये शूलोंसे परिपूर्ण;

दूध-मुहें बच्चोंके शैशव-निधन-करुण-दुख-द्वन्द
काट रहे हैं मुझे, पाप ही मेरा बनता फन्द
और विधुरका, दुखित पिताका पीड़ामय भय-शाप
महाप्रलयकी अग्नि चली आ रही लिये त्रयताप

होता है सन्तोष मुझे सुन्दर विटपोंके मध्य
शान्त कर रहे हैं जो मेरी मद-रेखा भूमध्य
मैं पाता हूँ इन घासोंपर हरी-हरी पट-सेज
और मित्र ! अच्छे लगते हैं ये भोले-से रेज।

माँग रहा हूँ प्रकृति जननि ! दे दे कोई सन्देश
करूँ शान्त मैं अजय भूख यह और शान्त निज देश।
अरे देवता तुम हो तो दे दो मुझको वरदान,
हो जाये मेरे जीवनमें पर-जन्मोंका ज्ञान।

जान सकूँ मैं कहाँ अवतरित वह नर-रत्न महान्
पतिके सुखके लिये किया था जिसने निज बलिदान।
करूँ अर्चनाएँ कह दो वह कहाँ अवतरित मूर्ति ?
जिसके जीवनमें भरती है वह नव-नवल स्फूर्ति ?

कहाँ भीष्म वह महारथी मानवस्वरूप अवतार,
कहाँ पराजय - हीन देव वह शान्ति-सरित-पतवार।
उसके वे दो नयन कहाँ पावन सुशील गतिवान,
मिट्टी है कर दिया जगत् मैंने जिसका छविमान ?

यदि वनदेवी हो तुम मुझको आज बता दो फूल,
बिछ जाऊँ मैं उन राहोंपर जहाँ बिछा है शूल;
चले जायँ जन कुचल-कुचल जाऊँ मैं जीवन हार,
टूकरा दें वे सिसक हमारी सुनें न जीवन-पुकार।"

"मैं देवता न वनदेवी हूँ मैं हूँ एक किसान
बना हुआ हूँ देव-तुल्य दम्पतिका पर सन्तान"
कहा युवकने, "चलो चलें हम जहाँ पिताका संघ
देता है ऐसा साधन हम बनें उसीके अंग।

यदि होता मैं दुखी बाल वह जिसकी माँका अन्त
हुआ तुम्हींसे, कह देता मैं 'सचमुच तुम हो सन्त।'
बुझ जायेगी अग्नि जल रही है जो ले प्रतिशोध,
प्रकृतिजन्य भावोंका हो सकता न कहीं अवरोध।

प्रकृति पुरुष है, सत है जग उसकी महिमाका कार्य
और पूछता जो 'जग क्या है ? क्यों है ? रहे न आर्य
चिन्तन वे उसके; यह जग है एक पथिकका खेल,
गमन-आगमन लगा हुआ है सूक्ष्म सगुणका मेल

होता है दिन-रात मृत्यु है तत्वोंका पृथकत्व
छुई-मुईसे तरु-तमालतक सबका फिर स्थायित्व
होता है, घनके झरनेमें बरस रहे हैं प्राण
पौधोंमें जो सत्व बन रहे होंगे जिससे धान,

बनते हैं ये तत्व पुनः सुन्दर रचनाके मूल,
मेरे ही प्राणोंका है यह प्रणय खिला-सा फूल।
तुम्हें पतनने दिखलाया पथ उत्थानोंका रम्य,
सुनो प्रकृति कह रही सदा तुम धन्य सदा तुम धन्य।

निशमें पत्रोंसे कहता है तरुका नखत प्रकाश,—
'जाने दो पथपर, प्रातः आया, न तुझे अवकाश।'
अतः चलें हम झोपड़ियोंमें और नहीं तो खेत
खा जायेंगी बन्दर-गायें सब जड़ बीज समेत।

आय खेदते हां मैं आया यहाँ तुम्हारे पास
वह पारन करने आई थी दिनका रहा उपास।
तुम मिल गये मुझे भाई गइया महयाका दान,
उसे पकड़कर घास खिलायें दें उसको सम्मान।"

युवक चल पड़ा चला और वह नस्तमस्तक गुणवान्
आज धनी वह बना वास्तविक खोकर धनका मान।

अष्टम सर्ग

"किसने जाना था भविष्यमें जग होगा सब एक
किसने माना था जन देगा आवरणोंको फेंक ?
कहा किसीने कभी क्षमा हो सकता है अपराध ?
सुना किसीने कब कहते किसको नर होता व्याध ?

कभी व्याध भी जान सका है मानवताका सत्त्व
मिथ्यामें भी छिपा हुआ है कुछ अन्तरका तत्त्व !
यहाँ बनेंगे एक कभी क्या ये विपरीत विचार !
लेगा कोई अपर - जनको प्रमुदित हाथ पसार ?

सभी सोचते थे न मिटेगा कुलमें डाला हाड़,
सभी जानते थे न जमेगा बंजरमें मृदु बाड़,
सभी मानते थे न जायगा मदका बोया बीज,
सबको था विश्वास हरेगा दुख केवल तावीज,

मिटा सकेंगे पाप सभी कल देख गगनमें दूज,
मनका दाह मिटेगा केवल बनका चौरा पूज ।
जिनको देखा लड़ते कल अब वे करते हैं प्रेम,
जोड़ रहे थे जो कौड़ी वे लुटा रहे हैं हेम ।

जिनका था प्रकाशमें आना एक महा संघर्ष
उपजाते हैं वही स्नेहसे नित घर - घरमें हर्ष।"
"कभी न जाओ; श्याम ! दिनोंके परिवर्तन पर भूल,
काट सकेगा कभी न कोई इस अन्तरका मूल,

कर न सकेगा कभी दूर कोई जगसे दासत्व,
धनी और निर्धन होंगे होंगे विनाश अमरत्व।
तुम सुबोधकी प्रिय बातोंमें कभी न जाना भूल,
उसका सम - सिद्धान्त सदा है नया और निर्मूल।

वह पथपरका मिला भला क्या जाने सुन्दर नीति,
वनका रहनेवाला क्या जाने महलोंकी रीति ?
दो अक्षर पढ़ चुका और है करने चला विचार,
चार दिनोंका बाल भला वह क्या जाने संसार ?

उसके पिता प्रकाश रहे हैं निज जीवन - भर दास
केवल एक डींगकी उनको सदा रही है आस।
धनी और निर्धन आये हैं ले अपने दो लोक,
लिया एकने अंधकार पर अन्य सहित - आलोक,

एक जन्मसे पति है, सेवक और जन्मसे एक,
अपना अपना भोग क्यों न भोगे जगमें प्रत्येक ?
कर्म किया था उस जीवनमें वह धनियाँ है आज;
किया न जिसने कुछ भी कैसे वह पायेगा राज ?

हो सकता है स्वामी कैसे वह जो कल था दास ?
वह कीचड़का बीज कहो क्यों पनपे पर्वत - पास ?
यह पागलपन है सुबोधका यह उसका अज्ञान,
सुने ज्ञात होता है उसने किया सुराका पान।"

"नहीं, मनोहर ! कभी तुम्हारे हैं ये उच्च विचार,
कभी न कर सकते हो तुम इनका निर्भीक प्रचार,
कभी तुम्हारा सुन न सकेगा नर ऐसा संदेश।
अब न रंग लायेगा दीनोंपर ऐसा आवेश।

कैसे कहते हो प्रकाशजी हैं जीवनसे दास ?
देखा, रहा स्वतंत्र हृदय है सन्तत उनके पास।
माना, है सेवकत्व उन्होंने जाना अपना धान्य,
पर, सेवामें दास बने कोई कैसे हो मान्य ?

वनमें रहनेवाला यदि जाने भवनोंकी बात,
कहो श्रेय उसको है या उसका है वह उत्पात ?
धनी और निर्धन जो पहलेके कर्मोंकी देन
क्यों कोई सन्तत उनका सुखसे उपभोग करे न ?

एक बार प्रभुने था रक्खा धनियों उसका नाम
क्यों होता वह समय गोदमें निर्धनसे बदनाम ?
धनी और निर्धनको अबसे मिला एक ही लोक,
मिला एक ही सदा उन्हें समताका तम - आलोक।

कैसे बड़ा किसीसे कोई ? क्यों यह अत्याचार,
समवेदना सभीकी सम अपना - अपना व्यापार।
कहे किसीसे क्यों कोई हूँ मैं ऊँचा तुम नीच
और एक है सौख्य भूमि दूसरा अपावन कीच।

सचमुच स्वर उसने साधा है युगका सरल सुबोध
कर न रहो हे व्यथा अतः उसका नव पथ - अवरोध ?
वह पागल है उस मदका जिसका मीठा उन्माद
जगके किसी एक प्राणीमें भरता है आह्लाद।

वह बढ़ता, लाने जाता है नव कुबेर - सम्पति
जिसके वितरणमें न किसीको है तृण भर आपत्ति।
यह लाता है इस पृथ्वीपर वह स्वर्गीय स्वराज
जिसमें एक न कह सकता है यह मेरा है राज।"

"किन्तु श्याम! क्या पाप नहीं यह छीने कोई रत्न
निर्दयतासे आज किसीका जिसके लिये प्रयत्न
किया पूर्वजोंने मर - मरकर और बहाया खून
चले कण्टकोंके मगपर अपना तज सेज - प्रसून।"

"यदि प्रयत्न ही अधिकारोंकी एक कसौटी रम्य
तब क्यों चतुर मनोहर! करते हो यह विषय अगम्य
जो ही करे प्रयत्न उसे ही दे दो यह अधिकार
जो करता है श्रम उसका होने दो प्रिय आकार।

घहराते घनके बूँदोंकी सहता है जो चोट,
जो सहता है उपल - मार देकर तरु - तरुकी ओट,
जो देता है बिता किन्हीं झोंपड़ियोंमें दिन - रात
काँप - काँपकर सहता है जो सदय शिशिरका वात,

सी - सीमें जिसका जाता है सुन्दर प्रथम वसन्त
श्रममें ही होता है जिसकी संध्योषाका अन्त,
जिसके तनपर अग्नि छोड़ता है यह झंझावात,
जो पीता है गरम पसीना घर - वनमें दिन - रात,

बढ़ी धूप जिसपर गरमीमें लू करती उत्पात
जठर जेठमें रवि - किरणोंकी जो सहता है घात।
रखने दो यह रत्न उसे ही अपने घरमें क्यों न?
कभी न्यायका नाश मनोहर! करो भूल कर यों न।

वह करता है पाप नहीं यह है उसका उत्साह
वह न ढाहने चला वृक्ष उसका यह सहज प्रवाह।
क्यों न भहर जाये वह तरु रोके जो उसकी राह,
वह न चाहता उठे कभी उस पथपर कोई आह।

सुना नहीं है क्या तुमने अबतक धनपतिकी बात?
अब इस दुनियाके कुबेरने मारी धनपर लात।
सौंप दिया है उसने निर्धनके हित सारा राज,
वह प्रकाशके महासंघमें लघु सेवक है आज।

आज बुलाया है सुबोधको उसने अपने ग्राम,
कर देगा सम्पत्ति सभी वह हम दोनोंके नाम।
जानेवाला है इस नदसे अब वह ब्राह्मण वीर,
किन्तु मनोहर देखो असमयमें उठ गया समीर।

लहरें आती हैं प्रकोपसे नद बन गया समुद्र,
मधुर - मधुर-सा नीर बन रहा है पल - पलपर रुद्र।
देखो तटकी चमक - दमक - के कण लाये तूफान,
स्वयं शान्त यह नदी अरे! कैसे कर उठी उफान।

डगमग डगमग नदी - कक्ष डिण्डिर ले चला प्रचण्ड,
खण्ड-खण्ड जल-थल जलचरको मिला अकारण दण्ड।
मगर - मगरके लड़े मुण्ड, व्याकुल झखझखके झुण्ड,
मिटी डिम्बिका मचा डिम्ब डग-डगपर चिकरे सुण्ड।

भोले भोले ये करार कलुषित कबन्ध कंकाल
मृदुल मृदुल स्वर्णिम प्रकाश रजके हो आये काल।
"श्याम! देख यह बहुत दूरसे कोई छोटो नाव
बढ़ती है आ रही इधर है नदका जिधर चढ़ाव।

भँवर छिपा लेती है पलमें तरी अधरसे चूम,
फिर निकाल देती है उरसे इधर - उधर वह घूम ;
झपट - झपटकर भँवर उसे देती है फिर झकझोर
पलमें कट जाते हैं उसकी गतिमें कितने पोर।

कबतक सह सकती निष्ठुरता यह तरणी सुकुमार,
वह नायक उद्भ्रान्त बढ़ाता जाता अत्याचार।"
"अरे ! नाव ही है; बन जाये हवा शान्त तत्काल,
अरे ! रुक्मिणी अब न बचेगी, बढ़ आया शिशुपाल।

चला भला सकता है कैसे माँझी तटकी ओर
नैया, तटपर ठुकरा कर जब लहरें करतीं शोर;
हो जाता है जब विदीर्ण कण-कणमें तटका रूप
रख सकती तटपर कैसे नैया निज सौम्य स्वरूप;

घुमा न सकता है नाविक इन लहरोंमें पतवार,
हे अदृश्यके देव ! बचा लेना उसका संसार।"
"फिर भी श्याम ! कर रहा नाविक लहरोंका उपहास,
तूफानोंपर हँसती बढ़ती आती नैया पास।"

"चलो मनोहर ! दौड़ चलें हम उधर और कुछ दूर
जिधर हवा-पानीसे पल-पल लड़ता है वह शूर।
देखें यदि हम हो सकते हैं अक्षर कोई एक
जिससे मिट सकता है नाविकके विपदोंकी छेक।"

श्याम-मनोहर बढ़े हवा-से, ध्वनि लेकर मझधार
गरज उठा था, "विजय-विजय" जैसे अरिको ललकार,
"रोक न सकती प्रकृति हमारा यह सुन्दर पथ और
मिटा न सकता यह उठान इस लकड़ीका लघु ठौर।

रोक न सकती है मेरा पथ बड़वानलकी आग,
क्या कर सकता है प्रचण्ड रविका जगती-जल जाग।
जो बढ़ गया चरण तो फिर लौटना कौन-सा काम
कभी बुला लेती है क्या छूटा शर कड़ी कमान ?"

सुन साहसके स्वर विनाशमें लिया श्यामने सोच—
'यह सुबोधका दल जिससे लहरें खा गईं संकोच।
लय करने थी चली सती धर विकट प्रलयका रूप
किन्तु सहम-सी गई चरण-तल देख हृदयका भूप।'

फिर सरितामें गूँज उठी ध्वनि 'जीते रहो सुबोध !'
श्याम स्वरोंपर नाच उठा, हो गया उसे था बोध—
'बिना वीर माँझी सुबोधके क्यों खे लेगा अन्य
तरी, जोरसे प्रलय बढ़ा आता जब लेकर सैन्य।

किसे ध्यान है इस विनाशमें करना है कुछ काम
कौन प्रतिज्ञाएं सोचेगा जब मिटता है धाम।'
भर अन्तरमें विजय-भाव पलकोंमें नव उत्कर्ष
कभी तरीको देख रहा था, कभी स्वयं वन हर्ष

देख मनोहरको करता था अपनी बातें पुष्ट
कहा जिन्हें कुछ काल पूर्व; वह साथी भी सन्तुष्ट
था प्रतीत होता यह लखकर निर्भयताका ढंग
वह उलझनमें खिला रहा था राम - शरों - सा रंग।

तबतक बोला श्याम—'मनोहर ! यह प्रकाशका पुत्र
घर - घर घूम रहा है लेकर मानवताका सूत्र।
एक शिखामें बाँध - बाँधकर भिन्न भिन्न अवधान
लूट रहा है परम रागसे निशि - दिन प्रिय अवदान।

ऊपर नभ, नीचे तल निशमें, शीत - कालका वात,
ग्रामीणोंके साथ बिता देता है सारी रात।
कउड़ा ही है बना जहाँ नित मिलनेका प्रिय स्थान
मिट जाते हैं वहीं कलह सब द्वेष और अपमान

झोंपड़ियोंमें दौड़ - दौड़ जो करता है पहचान
समझ - बूझकर पर पीड़ाका जो करता अवसान
दुखियाकी जो दवा और अल्पज्ञोंका जो ज्ञान
उसका गौरवयुक्त तरीपर उड़ता तरल निशान,

जिसके सम्मुख उड़ा न सकता पावक अपना केतु
पवन और पानी न तोड़ सकते हैं जिसका सेतु,
हिला सका है हृदय न जिसका भव - व्यापी भूचाल
वह बढ़ता जाता है लेकर सौ सिंहोंकी चाल।

वह गाता जाता है लेकर अपनी निर्भय राह
हटा न सकती जिसे मार्गसे कभी अन्य - सी चाह।
देख मनोहर ! शान्त दिशाएँ हुईं और तट शान्त,
शीतल बने समीर - नीर, नदके कण बने प्रशान्त,

शान्त गगन-तल साधु सरित बन गए, शान्त सब क्लान्त;
थकित आसुरी रूप, व्यथित अब रहे न खग पथ-भ्रान्त,
सौम्य बना सब प्रान्त सरस बन गया मलिन दिन-कान्त
यह अनन्त सा मिलन-पंथ बन गया विपलमें सान्त।

अधर पृथक् आँखें उन्मीलित खड़ा मनोहर मौन
देख रहा था तरी शिथिल बनकर, 'सुबोध सा कौन'
कहती थी जैसे पुकारकर मुख - आकृति। 'सम्मान
क्यों न करेंगे सब उसका लेंगे सब बातें मान।'

साहसके जलनिधिमें बढ़कर जो आया जलजात
क्यों न उठा लेंगे उसको हँसकर पलमें, बरसात
देती है किसको न शान्ति, किसको न अमर वरदान
मिलता है स्वातीसे, किसका बना न जलसे प्रान।

कर्मोंमें घुलकर सुबोधके भावोंमें चुपचाप
बिक-सा गया मनोहर क्षणमें आज आप ही आप।
फेंक भुजाएँ गगन बीच कह उठे मनोहर - श्याम,
"हे नाविक अप्रतिम ! करो इस तटपर अल्प विराम !

ला दो हे गुरुवर ! अपनी नैया कुछ और समीप,
जिसपर चढ़कर जला सकें हम इस प्रकाशसे दीप।"
उठी भुजाएँ देख तीरपर नाविकको आभास
हुआ—'बुलाते हैं तटपर कोई ये अपने पास।

ये कोई ऐसे जन हैं जिनपर कोई सन्ताप
पड़ा हुआ है, सुन न रहा है कोई करुण विलाप।
चलो करूँ अपनी सेवाओंसे उनका उद्धार,
पाया हमने जन्म यहाँ नित करनेको उपकार।'

घूम गई पतवार मुड़ी नैया उस तटकी ओर
जहाँ चन्द्रको देख रहे ये दो नाचते चकोर।
लगी नाव तटपर झटपट चल पड़े मनोहर-श्याम,
चढ़े कूद जैसे अपनी थी वह नैया अभिराम;

घरका था नाविक जैसे जैसे था अन्य समाज
अपना ही परिवार, रहा जैसे अपना ही राज।
श्याम - मनोहर बैठ गये बढ़कर सुबोधकी ओर,
ललित चन्द्रके पास गये मानो दो विकल चकोर।

पीने लगे अमर रस पलमें व्यथा गई सब भाग,
बढ़ने लगा सुगम गतिसे पल-पल नव-नव अनुराग।
लुटा रहा था सुधा सुधाकर खोल प्रभाका द्वार
प्रिय मस्तककी चन्द्र - परिधिसे बरस रहा था प्यार।

कहने लगा सुबोध, "महाशय! कहें कौन हैं आप?
कौतूहलमें कहें कौन लेकर आये सन्ताप?
किस प्रदेशका और सुनाना है किसका सन्देश?
करूँ कौन-सा काम? कहें! क्या है मुझको आदेश?"

"मैं उस थलका रहनेवाला हूँ जो दो पल बाद
सुननेवाला है पृथ्वीपर सुरपुरका सम्वाद—
जो सजधजकर आज खड़ा है, शोभाएँ सुख-मूल
अर्पित कर देनेको है जो उद्यानोंका फूल—

तरु-तरुकी पत्तियाँ जहाँ गानेवाली हैं गान
सूखे वृक्ष हरे हो करनेवाले हैं सम्मान—
घर-घरमें प्रकाश बिखराते दीपावलिके हाथ
जहाँ उतर आया है नभ नक्षत्रावलियोंके साथ—

उसी भाग्यशाली चन्दनपुरका मैं हूँ जन एक
देख रहा है पन्थ तुम्हारा जिसका जन प्रत्येक,
समा गई है जिसमें नायक! एक अलौकिक शक्ति
जग आई है जहाँ तुम्हारे नव युगकी नव भक्ति।

हम श्रमिकोंके प्राण! चलो भर दो हममें कुछ और
हम श्रमिकोंकी अधम कहानी हो जाये कुछ और।
जग-व्यापी वेदना नई यह है हम सबका शोक
हरनेमें लग गई आज जो श्वेत गगन आलोक।

नखत-नखतसे टपक रहा है श्रमका चिन्तन-राग,
देख रही है रजनी अपलक यह मिटता अनुराग।
भादोंके अतिव्याप्त तिमिरमें मर्मर पल्लव गान
छेड़ गीत-सा देती है वेदना श्रमिककी तान।

श्रमिकोंकी वेदना बसाती सुख-दुखके संसार
रच स्वरूप अगणित पल-पल कामना प्रणय-अभिसार
निर्बलतामें जो गल-गल मिटते रहते प्रति बार
पिघल-पिघलकर वह जाते कर-कर दो तीन पुकार।

कौन कहानी कहें द्रुमोंसे लिये व्यथाएँ मौन
हम सरिताके राजमहलपर गीत सुनाएँ कौन?
क्यासे क्या हो गया हमारा वह सुन्दर परिवार
आस-पासकी दुनिया हमपर डाल रही अंगार।

बाहर है संघर्ष, न उरमें है अपने सन्तोष
भरा हुआ है जिसमें सन्तत किसी यतीका कोष;
कर देती है तुच्छ और जो धनका बड़ा महत्त्व
वह समाधि है मिली न मुझको; मिला न मुझको तत्व

जिसका सिरपर मुकुट पहनकर मैं जाऊँ कुछ फूल,
निजके दर्शनमें जाऊँ मैं जगका दर्शन भूल।
यश न मिला है यश न मिला है मिला न कुछ अवकाश
देख रहा हूँ पर उनको जिनका इनसे आकाश

बना हुआ है रुचिर और कहते हैं जो जग रम्य
मुसकाकर, है मिला उन्हें जैसे यह जीवन अन्य,
और अन्य मैंने पाया है जो लेकर सन्ताप
रिक्त हो चुका। अन्त आ रहा स्वप्नोंमें चुपचाप,

यह धोखा दे दे कब ? पाया कभी न मैंने प्यार
कभी न मुझको मान मिला है, सुनी न गई पुकार।
लेट रहा है थकित पथिक-सा पथपर नव उत्साह,
इच्छाएँ ये खोज न पातीं अपनी सुन्दर राह

पड़ा हुआ है शान्त कहीं झोपड़ियोंमें एकान्त
लुटा जा चुका है जैसे उनका अपना मृदु प्रान्त।
धर्मशालाओंके प्रदेशमें अपना मंजुल गात,
बिता रहा हैं युग - सा कालापनमें यह दिन - रात।

पुर्जों - से हो गये हमारे ये पंजर निर्जीव
पिसते - पिसते पीले पड़कर हुए अधम निर्जीव।
चिमनीसे जलता है मेरा कोमल रुचिर शरीर
गगन वाष्पमय करता रहता मेरा श्वास - समीर।

गंध चिराइन रंग - महलका बनता सौम्य सुगंध
बड़े - बड़े ये स्तम्भ खड़े हैं मेरे जर्जर स्कन्ध।
कृश होकर खोकर पल - पल लालिमा त्वचाकी रम्य
ये कपोल नव वयवालीके ले इतिहास अगम्य

पड़ जाते हैं कहीं किसी कोनेमें शीतल नीर
बनकर, रस लाता उस थलपर नाहक गरम समीर।
रतिकी मादकता लानेके पहले ही उत्पात—
कितनी ही अविवाहित कलियाँ गिर जातीं दिन-रात।

नव पति लेकर बढ़ा जा रहा नैसर्गिक उल्लास
आज लुटाने स्नेह सुहागिनि निशमें, यह उपहास
संध्यामें मिल गया, 'रही नव प्रिया न अपने पास।
नव पीड़ाओंमें फँसकर लेकर वह एक उसाँस

एक चीख गिर पड़ा प्रियाके वक्षस्थलके तीर
जहाँ न अब कम्पित करता था स्तनको सरस समीर।
इस प्रकार भहराकर गिरते जहाँ प्रणय - प्रासाद
और जवानीके जीवनमें दुखके बड़े प्रमाद

चन्द्र - किरणकी ओट करें पतिहीनासे सम्वाद
कहीं और वात्सल्य मिटे अनजाने पलके बाद।
यह अशान्ति लेकर आया हूँ यह मेरा विश्राम,
मैं महँगूका पुत्र और है श्याम हमारा नाम।

क्या-क्या कहूँ! सुनाऊँ क्या-क्या!! क्या-क्या मेरे काम!!!
कह देता हूँ सब कुछ लेता जभी तुम्हारा नाम।
यह है मित्र मनोहर, नायक बनें हमारे आप
और करें सब दूर हमारे ये भवमय सन्ताप।"

मधुर हँसीमें खोल सफलताके साहसके द्वार,
अँगड़ाई लेकर सुबोधने पकड़ी फिर पतवार।
और चल पड़ी नैया तटसे मृदु लहरोंपर घूम,
निकल पड़ी परवाली चिड़िया मधुर हवामें झूम।

छल - छल करती जाती गाती जलपर जीवन - गान,
मदमाती होतीं किरनें सुनकर, करतीं सम्मान।
नौका, वारि, किरण तीनों मिल तीन देवकी तान
सती, रमा, वाणी थीं तीनों लेकर प्राण अपान

निकल पड़ीं उस नदी - कक्षमें सस्मित स्वरके साथ,
पलमें पवन - प्रकाश बिक गये हँसकर उनके हाथ।
छोड़ राज्य वह वरुण नीरसे निकल पड़ा तत्काल
और उठ गईं लहर लहर; स्वर-स्वरमें मधुर मराल

कहीं छिपाकर कहीं दिखाकर रूप - सुवसना लाल ,
पीली और हरी ले आये जल - देवियाँ विशाल :
पास - पास फिर दूर - दूर जल - कणमें जीवन डाल
चहक पड़ीं परियाँ सब, सब नाविक-जन हुए निहाल ।

उछल - कूदकर तरल तरी चञ्चल जलपर सुकुमार
वयवाली - सी इधर - उधर झुककर नव तनका भार
लिये चली जाती थीं चतुराईसे रूप सँभार
या फुहारसे उलझ खेलती हुई प्रभा - सी हार

और जीत खाती जाती पल-पल कानोंमें बोल
कुछ अनजानी बात अजाने स्वरमें मधुरस घोल;
या यह जाता है कोई सुन्दर-सा खग नव-स्नात
पंख फड़फड़ाता गाता मँड़राता सज-धज गात,

या यह नभसे उतर एक घन नीले जलपर आज
नभकी सुन्दरता बिखराने आया; यह वनराज
या कि तोड़कर जिसने फेंके कुछ काननके पात
फूल बाँधकर; नहीं नहीं, यह अपर लोक–संजात

जन कोई जाता सरितापर, और घुमा दी आज,
जिसने यह मोहनी छड़ी सबपर जाने किस काज ।
सभी तीरके तरु महान् हो स्थित अबोध वन-मुग्ध
जाने क्या कह रहे, कण्ठ स्वर था उनका अवरुद्ध

लगी हुई थी एक टक-टकी थे अनुभाव विचित्र
और तरीका तैर रहा था सरस सरितपर चित्र ।
चित्रित हो जाता था पलभर कितनोंका संसार;
कितने तटके पथिक प्रेममें पग-कर, ले मनुहार

स्मृति-उसाँस भरकर रह जाते वहीं तीरके तीर,
किन्तु निकलकर उर उनके हिल गये तरीके तीर।
तट-बालाएँ घड़े शीश रख फिर घूँघटसे झाँक
गज-गतिसे चढ़ती जाती थीं पग-पग पथको आँक

एक-एक कर पार कर रही थीं सीढ़ियाँ सहास
और फेंकती रही दृष्टि रह-रह नैयाके पास।
बालक और बालिकाएँ सब तटपर करतीं शोर,
'अरे पालवाली नैया! तुम आ जाओ इस ओर,

हमें चढ़ाकर तनिक घुमा दो इस नदियाके बीच
हम लेंगे ठंढे पानीसे अपनी आँखें सींच
और मछलियाँ हम खींचेंगे पानीसे दो-चार
सब जन मिलकर दूध पिलाएँगे न करेंगे रार,

प्यार करेंगे उन्हें और फिर देंगे जलमें छोड़
और नहीं तो माँ आ देंगी उनकी बाहें मोड़।'
और कहीं दो-चार लड़कियाँ जो बचपनको पार
अभी-अभी कर रहीं लिए उरमें भावी शृङ्गार,

एक-एकको बना-बनाकर करतीं प्रेम-प्रहार।
देख तरीको एक चंचला झट कर उठी पुकार—
"खड़ीं सखी ये खोले नभमें अपने सुन्दर केश,
नैयावाले! इन्हें दिखा ला इनका प्रीतम-देश।"
और दूसरी बोल उठी—"जा-जा रे नाविक! दूर;
इनका पति मैं बन बैठी हूँ, मैं नाचता मयूर
और मयूरी ये प्रियतर।" ये सब थे इनके राग
बढ़ती जाती तरी किन्तु कुछ लिये और ही राग।

यह तट छूटा, वह तट छूटा, छूटी बीचि बहार,
छूटे और अनेकों थल सुन्दरताके आगार।
पल - पल बीत गए थल - थलमें कर श्रद्धा - संचार।
"चन्दनपुर आ गया।" कह उठा तब तक श्याम प्रचार।

धीरे - धीरे तरी लगी तटपर, कह उठा समाज,
"जय प्रकाशकी ! जय प्रकाशकी !! जय प्रकाशका राज;
चिरजीवी हो क्रान्ति हमारे होवें अमर सुबोध ;
मिले हमें युग-युगका जीवन, मिले प्रशान्त प्रबोध।"

उतर तीरपर राम - भरतसे दोनों बन्धु समान
मिले मुदित मन धनपति और सुबोध। फूल, तृण पान
गिरे गगनसे बरस पड़ा हो जैसे सुर - उद्यान।
सुमन-राग-रंजित-सगंध पथ जल-सिञ्चित छबिमान-

मग - समीपकी इधर - उधरकी झोपड़ियोंमें जान
एक नई आगई ; गाँवके छोटे बड़े समान
घर-घर सुमन सजाकर रचकर शुभ स्वागतके द्वार
देख रहे थे पथ सुबोधका स्वजन - सहित मन वार।

बालकगण हँस - उछल - कूदकर प्रिय स्वागतके गान
गाता था कह उठता था 'वन्दे मातरम्' महान्।
चन्दनपुर बन गया जनकपुर, दीवालोंसे हास
फूट बह चला गली - गलीमें, नर - नर नव उल्लास

आज लुटाने लगा, हुई जब आजादीसे भेंट,
सभी लुटानेको प्रस्तुत थे सारा विभव समेट।
'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' सब कह रहे पुकार
टपक - टपक उरसे बहता था रह-रह उज्ज्वल प्यार।

फूल - फूल साहससे लेकर सब जन अजब उमंग
लहराते थे हृदय - हृदयमें पल - पल तरल तरंग।
घर - घर घूम - घूम लेकर सबके श्रद्धा - उपहार
प्रमुदित धीर सुबोध आगया जहाँ समरका द्वार।

चढ़ा मंचपर ; उठे लोग, जय - जयकी मचो पुकार ;
धनपति बोल उठे नायकका कर समुचित सत्कार—
"आप जानते हैं सुबोधको परिचय देना व्यर्थ
छिपा हुआ है इनमें हम सबके भावोंका अर्थ।

आशाओंकी मूर्ति हमारी ये हैं पुरुष महान्
आते रहें विरोध भाव सन्तत हैं सिंह - समान,
और आप सब हमें जानते ही हैं क्या था क्या न,
कौन रहा अवशेष पाप जिससे न रही पहचान,

अपनाया है आज उसको ; मुझे क्षमाका दान
दिया इन्होंने सुजन ! आप करते उनका सम्मान।
भाग्य आपका बड़ा, बड़ा है और आपका देश
मिले जिसे हैं श्रीप्रकाशजी जैसे पुरुष विशेष।

एक आह आती है रह - रह मेरे देव महान्
धर्मदेवजी मेरे पापोंके बन गए निशान।
यहाँ नहीं हैं और न जाने कहाँ जगत्से दूर
अन्तरालमें पड़े हुए है, मैंने किया कसूर,

सुखी बनूँ मैं यह कैसे हो, परकी सम्पति छीन
क्यों न बनूँ उपहासित होवे मेरी दशा मलीन।
अगर बनाया गया भूमिपति तो मैं स्वामी हूँ न,
दिया गया यदि नाम आपसे तो मैं नामी हूँ न।

यदि करते सम्मान आप हैं तो सम्मानित आप,
करूँ अगर अपमान, मिले फिर अयश आप ही आप।
कर जो मिला आपसे मुझको कभी न सुख सामान
हो सकता है वह मेरा, यदि समझूँ तो नादान
कहलाया, बन गया बुरा हूँ। मेरा यह अन्याय
रहा, पलोंके बाद जहाँकी तहाँ गई वह आय।
इतना ही था अधिक भरा मैंने उससे यह पेट
और गँवाई अकर्मण्यतामें दिन-रातें लेट।

आप सबोंका ही है यह धन मैं लघु सेवक एक,
आप सबोंमेंसे मेरा भाई-भाई प्रत्येक;
और वृद्ध सब पिता, पुत्र-से यह सब हैं संतान,
बहनें बहन हमारी पूजें सभी एक भगवान्,
सबके मन्दिर एक, एक है सबका यह आकाश,
सभी तनोंमें एक जगहसे आया अगम प्रकाश।
जीना एक जगह है, पाना एक जगह है अन्त;
सभी एक पल पापी भी हैं सभी एक पल सन्त।
रोना-हँसना एक, एक ही है सबका संसार,
एक सुयश है, घृणा-अयश है एक, एक है प्यार।
हम सब मिल जाएँ छोटे मोटे अन्तरको तोड़,
रस्सी प्रबल बनादें सब निर्बल तागोंको जोड़।

यह प्रकाशका मंत्र सुनाने आये दिव्य सुबोध,
कर सकता न असत्य सत्यका सुपथ कभी अवरोध।"
सभा-बीचसे उठ महँगूने कहे वचन सोत्साह—
"डूब रहे थे हम सरितामें आज लगी है थाह,

आज मिली है पथ-भूलोंको सीधी-सादी राह;
हम बूढ़ेमें भी उठ आया है नवयुग—उत्साह।
फड़क उठीं हड्डियाँ और लग गई नसोंमें आग,
जाग उठा फिर मुर्दे दिलमें एक बार अनुराग।

एक बार फिर जाग उठीं ये आँखे आँखें फाड़,
और हिल गये मगमें पड़नेवाले सुदृढ़ पहाड़।"
उठा मनोहर और कहीं कोनेसे जैसे जाग—
"मैं युवकोंमें आज लगा दूँगा वह जलती आग
जो बुझकर लाती है फिर अन्तरमें सुन्दर त्याग,
और प्रज्वलित करती रहती जन-सेवाका राग;
ये कुमार सब बदल बनेंगे आज कर्मके वीर,
और फुहारोंमें उछलेगा यह प्रशान्त-सा नीर।"

और कहींसे एक मधुर-सी आई सौम्य पुकार—
"कभी नहीं पीछे रह सकता है मेरा संसार।
बन विदुषी मैं आज मिटाऊँगी सब संकट-पुंज
छोड़ कलहका क्षेत्र बनाऊँगी मैं घरमें कुंज।
भर दूँगी मैं आज भले भावोंसे माँका लोक,
कभी न उसमें जम सकता है अब समाजका शोक।"
फिर धनपतिने कहा—"भाइयो! यह मेरी सम्पत्ति
आज निछावर हुई आपके लिये, और आपत्ति
बनी आपकी मेरी, मैं बन गया आपका दास,
आप सबोंके उपहासोंमें मैं अपना उपहास
समझूँगा, गौरव गुरुतामें; सेवाओंके साथ
एक मार्गपर चलें सभी हम धर-धर अपना हाथ।

और उषादेवीकी स्मृतिमें विद्यापीठ विशाल
एक बनेगा धर्मदेवजीका भी स्मारक लाल-
हरे प्रस्तरोंसे भूषित होगा सरिताके तीर
जय-जय उषा ! उषा जय-जय !! करता है जहाँ समीर।

औषधियाँ भी वहाँ मिलेंगी; फिर बच्चोंकी याद
बनी रहे हम सबमें होगी अतः एक बुनियाद
कला-भवनकी मंजु आज जिसमें बालक प्रत्येक
पढ़े-लिखेगा, खेलेगा फिर और बनेगी एक

वहीं चित्रशाला सुहावनी, हस्त-कलाएँ, गान,
खेती, स्वास्थ्य आदिके सुन्दर होंगे सब साधान।"
विनय और अनुनयसे समुदित होकर सुखी अतीव
डाली फिर सबकी सुबोधने विधिवत् सुन्दर नींव।

और कहा—"सज्जनो ! न कहना है कुछ मुझे विशेष
एक जाति हम सबकी सबका एक बड़ा है देश।
आशाएँ जलकर न राखसे बना सकेंगी चित्र
अपनी उस चाही दुनियाका जबतक परम पवित्र

तबतक उम्मीदें करना हम सब सीखें दिन-रात,
मधुर ओसके कण लाएँगे फिर तो कभी प्रभात।
शान्ति-मार्गपर बढ़ें, चढ़ें लेकर अपना आलोक,
कर दें और प्रकाशित अपना और पराया लोक।

आज विदा लेता हूँ फिर कुछ और दिनोंके बाद
यहीं मिलेंगे होगा प्रियतर फिर समुदित सम्वाद।"
जय सुबोधकी ! जय प्रकाशकी ध्वनिसे सब आकाश
गरज उठा था, नया-नया उरमें हो गया विकाश।

जनताका प्रतिनिधि बन जैसे बोल उठा फिर श्याम—
"जबतक अन्त न पालेंगे लेंगे न कभी विश्राम।"
सभा विसर्जित हुई, गए सब अपने-अपने धाम,
कुछ कामोंके बाद गजबका होता है आराम।

उथल-पुथलके बाद एक आती है ऐसी शान्ति
मिली हुई है फिर भी जिसमें एक अमर-सी क्रान्ति।
एक नया उल्लास, एक नव-जीवन लेकर आज,
नव आशापर गया नाचता वह सब नया समाज।

धर्मदेवका यश-गौरव उनका महान् बलिदान
आत्मोत्सर्ग उषाका यौवनमय जीवनका दान
लेकर चन्दनपुर चन्दनपुर बनता गया। सुबोध
जन्म-भूमिकी पावन स्मृतिमें बन-सा गया अबोध।

घर-घरमें फिर एक बार बीती घड़ियोंकी याद
एक दर्द-सी नई आ गई मानों युगके बाद।

नवम सर्ग

प्रातःका था समय; खिला था रवि नूतन सुकुमार ;
डोल रही थी मन्द-मन्द शुचि, सुरभित, सरस बयार।
सस्मित खोल रहा था उपवन निज कलियोंके द्वार,
चूम-चूमकर जिन्हें किरन जाती थीं सौ-सौ बार।

मँगई नदी पासमें बहती जाती थी चुपचाप,
गगन उतरकर खेल रहा था खेल आप ही आप;
लहरें किन्तु कँपा देती थीं तन उसका झकझोर
फिर भी नित्य बिहसता था वह इधर उधर सब ओर

और वहीं पर वयःसन्धिवाला सुर - सुता समान
सुमनोंमें ही पली हुई हो होकर सुमन समान
चिड़ियोंसे हिल, तृणसे मिल, विटपोंसे हिल-मिल बाद
और विवाद मचाकर फिर बोली अपना सम्वाद—

"गुन-गुन करती अरी मधुकरी ! देख जनकका राग—
गुण गा - गा भरदे सुमनोंमें एक अमर अनुराग।
मँडराकर मधु - भ्रमर कलीपर कह दे मेरी बात,
'सार पतन जीवनका क्यों जब खिले मधुर जलजात।'

उस समीरमें अरी चमेली ! तेरा मुकुलित प्यार
जहाँ न कर सकता है वह घन अपना अंध - प्रसार,
तपा न सकता जहाँ सूर्य हिम-कण न गिराता शीत
उस प्रदेशमें तेरा प्रियतम ! गाता सुन्दर गीत ।

अरे ओसकी बूँद ! चमककर देना एक प्रकाश
उस रविका, जिसके आनेसे तेरा हुआ विकाश ।
रे फूलोंके कीट ! ले रहा जिसकी पीली धूर
[छिपे-छिपे जिसकी गोदीमें] क्या न मिला भरपूर

सार, सुमनको उस देनेमें; कह देना—री बेल !
हरी - हरी जिस डालोमें तू घूम - घूमकर खेल
खेल रही द्रुमकी छायासे प्रिय किरणोंसे बोल
कह, क्या तेरा प्यार नहीं है डालीसे अनमोल ?

सूख रही शाखा, यह तुझमें कैसा पीला रंग ?
हरी हुई—देखा तेरे हँसनेका कैसा ढंग ?
इन विहगोंने किस चंचल गतिसे सरितातक दौड़
मीठे स्वरमें फूँक वेणु कह दिया, "पतन है गौण ।

मृत्यु न जीवनका कुछ, हे जीवनका जीवन सार,
और सरस है एक उसी प्यारेकी स्मृतिका प्यार ।
मैं तेरी हूँ बनी आज कलकल-ध्वनि ! सरित-समीर !!
दिन तेरे सपनोमें बीते; रे तट ! कितना धीर

हो जाता है उमड़ - उमड़ जब चलता तेरे तीर
जल है ? छोटी-बड़ी भँवरमें तृणकी नाव अधीर
होती है, जो पागल कर देती है मेरा चित्त
अरी भँवर ! तुम खोज रही हो दौड़ कौन-सा वित्त ?

मैं इतनी बढ़ गई; किन्तु तुम बनी रही अज्ञात,
मिली तैरनेकी शिक्षा तुमसे इतना है ज्ञात।
नीर! तुम्हींसे पले तीरके ये सुन्दर-से झाड़
बने हुए हैं वृद्ध पिताकी जो कुटियाकी आड़।

मुझसी कितनी ही आई नर-नारी तेरे पास
गाए बहुत गीत सुख-दुखके। भोग और उपवास
करनेवाले एक रागसे यह अटूट संगीत
सुने सभी तेरी लहरीमें। री मगई! भयभीत

हुआ न कोई तेरे अंकमें, सदैव सुखमान
खेले हैं कितने ही जलसे जिनके कथा-पुरान,
रखते हैं तेरे तट-तटसे एक अपर सम्बन्ध;
अजर बनेंगे जो लिखते हैं तुमपर कभी निबन्ध।

क्षुभ जीवनके महाकाव्यका रसमय अन्तिम सर्ग
बना रहे हैं जनक हमारे मिला उन्हें अपवर्ग—
सुख तेरे तटपर; तू गंगा है, सागरकी स्रोत,
निशमें आते है रस पीने तुझमें नभ-खद्योत।

तुम न थकी है कभी रुकी है यहाँ न तेरी धार,
क्यों न करे हे सरित! दुखी यह जगती तुझसे प्यार?
ये उद्भिज तेरे तटपर थे, मैं थी, खग थे, आज
एक व्यक्ति आया तेरे जलमें, बढ़ गया समाज।

जब आती हूँ जल लेने कुटियासे तेरे तीर
करती हूँ मैं याद उसे जो था सरवरके तीर।
मेरी ही नासिका और मेरे ही मानो कर्ण
हैं, उसकी मेरी ही छवि है मेरा ही है वर्ण।

मेरे - सा ही स्वर है पर उसमें है शुचि - साहित्य
मैं शुक हो जाती हूँ, वह हो जाता है हारीत।
वह सुशील है, सरल हृदय है अन्तर है तो एक,
मैं नारी हूँ, वह नर है; उसका सुकर्म प्रत्येक

आदर्शोंसे भरा हुआ है, उसका सिंहोत्साह
वन - मनका राजा होता है और हुआ है ब्याह
रूप और गुणके सुखमय जगका, है विश्व महान्
होता है जिसमें पर - पीड़क भावोंका अपमान

वह संध्यामें ले आया था जीवनका उपहार
और सुमन मन्दिरमें पहुँचाना मैंने स्वीकार
किया, भली संध्यामें; पत्तोंने छेड़ी निज बीन,
पाया प्रमुदित प्यार प्रभाका अन्धन्तम - पथ दीन

जैसी रति रखता है यह मुझसे प्रिय वन - पशु - वर्ग
सकुल बढ़ा आ रहा बन्धु - सा यह करने संसर्ग।
आज पितासे मैं कह दूँगी सब संध्याकी बात
हाय सोचती हूँ वे बातें जब सुन्दर बरसात

घिर-घिर घहर - घहर लाती है करुण एक सन्देश,
झर - झर बूँदोंके झरनेमें झरा न आँसू - लेश
जीर्ण हृदयका; केवल आई एक बड़ी - आह
मरु प्रदेशसे, हा पावसका वह शीतोष्ण प्रवाह!

आँखें थीं पी गईं अश्रु, अन्तर बन गया विशाल
शिला एक; पलमें कुहका था वृद्ध-हृदय भूपाल—
"बलि - वेदीपर रस - विलास बन गए मूक-कृश मेष
और शान्तिका मैं चिन्तन कर सका न कभी निमेष।

शान्ति रहे जीवनमें यदि निर्धनताका हो साथ,
मिले समय सोचें जिसमें हैं हम सेवक या नाथ,
तो जीवन है सफल हमारा सुन्दर है आकाश,
और नहीं तो प्रकृति स्वयं आई है लेकर पाश;

पर न कालका बचा सका मैं छोटा-सा भी भाग,
लगी हुई थी नित्य हमारे सौख्य-सदनमें आग।
घर छोड़ा है, जन्म-भूमि छोड़ी है, कुलकी आन!
तुम कितनी सुन्दर हो! तुमपर मैं करता हूँ मान।

तुमसे ही मैं पुनः पा सकूँगा अपनी प्रिय भूमि,
और बनूँगा इन्द्र, बनूँगा तुमसे ही मैं नेमि।
धन छोड़ा है तन छोड़ूँगा प्रण मैं छोड़ूँगा न
मातृ-भूमिके ध्यान! कभी तुमसे मुँह मोड़ूँगा न।

यह पूरबका वायु बड़ा शीतल है, नम है; अंश
इसमें तेरा मिला हुआ है; यह लाता अब ध्वंस
हुए घरोंकी सुधि रोती-सी और हँसी-सा प्रेम
उन गाँवोंका, फली हुई है जिनमें सुन्दर सेम।

वे लहराते खेत पासमें बड़ी-बड़ी-सी ईख
स्वयं उतरकर वह नभ जिनसे माँग रहा था भीख
रसकी। फूली रहर शीशपर रख गुच्छोंका ताज
तीन-चार हीरे देती है एक फलीमें आज।

वे अनजोते खेत खेलते जहाँ कबड्डी लोग,
यह पुरवा लाती है घरकी सुधिका अति प्रिय रोग।"
रुककर और जनकने ली थी धीमी एक उसाँस—
"छोड़ा था मैंने सुबोधको किसी गाँवके पास

दे न सका था अन्तिम वेलाका उज्ज्वल परिधान
किस नभमें है आज मिल गया प्रियका शून्य महान् ?
किस जलसे उसके जलका संगम है ? मधुमय मौन
लिए छिपाए घूम रहा है बात कौन, वह कौन ?

किस रविने ले ली है उसके तनकी जलती आग ?
मिलें आज वे सभी करूँगा मै उनसे अनुराग ।"
"भाई था मेरा सुबोध प्रिय फिर संध्याके बीच
मिला कौन यह मुझे बन्धु-सा ? बदल न जाती मृत्यु

जीवनमें है कभी, न होगी अनहोनी यह बात
उलट-पुलट भी उगें गगनके यदि वे तारे सात ।
पूछा मैंने नाम, तुरत ही उसने कहा प्रबोध--
'मुझे 'प्रेम' कहते हैं जन-जन मेरा नाम सुबोध ।

मैं पालित सुत हूँ; पाया हूँ देव-तुल्य माँ-बाप
जहाँ न जा सकता है जगका कभी एक सन्ताप ।'
भली बनी वेदना और शिव निर्धनताकी रेख,
घनी हुई अनुभूति सभीकी अवगुण्ठनको देख ।

वर्तमानमें कभी-कभी मिलता है हमको भूत
सूखी हुई नदीमें बह चलता है रुचिर प्रसूत ।
तू रहस्यमय नदी न पाया मैंने तेरा अन्त
और प्रकृति है अपठ-पाठ, पढ़ सकी न उसे; अनन्त

छवि है तेरी सत्य, सत्य है यह सारा संसार
हुआ जहाँ तक है तेरी गरिमाका प्रचुर प्रसार ।
मैं भूलूँगी तेरी लहरोंमें, बाधूँगी सिन्धु
लहर-लहरमें; पा लूँगी सरपर वह नूतन बन्धु ।"

फिर सुन्दर फूलोंसे वह अपने केशोंको साज
लगी देखने अंग-अंगमें एक नया-सा राज।
नव जीवन नव यौवन नूतन युगका नव उपहार
नवागन्तुकोंसे आए थे एक एक संसार

अपना-अपना लिए, चकित-सी थी सुकुमारी मौन
हिला-डुला देता क्या जाने उसके उरको कौन।
वह चंचल-सी मृगबाला-सी मधुबाला-सी मन्द
चलकर कलियोंसे कहती थी जैसे अपना द्वन्द—

'खिलो न कलियो! खिल जानेमें है कटु-सा उन्माद,
यौवन पानेमें नूतन है अकथ अनूप प्रमाद,
भोग रही हूँ, समझाती हूँ खिलो न, कहना मान
भरो न यौवन-नदमें तुम लहरानेका सामान।

अरे-अरे खिल गईं, हुईं विकसित, हा! सुनी न एक
नई-नई तालीमें उठ आई है नस प्रत्येक।
नव जीवनमें साज-सजाकर पंखड़ियोंके साज
लगी बुलाने आज कली! तुम इस तटपर ऋतुराज।

एक भ्रमरको सौंप दिया तुमने सारा शृङ्गार,
मैं लेकर रह गई खड़ी-सी यह अपना उपहार।
किसको दूँ किसको सौंपूँ यह मधु यौवनका भार?
कहाँ छिपूँ? हूँ समझ न पाती, चढ़ आया यह प्यार।'

इसी बीच तटपर जल भरने आई युवती एक।
लगी पूछने बात निराली उसके पथको छेंक—
"क्यों जल भरने इधर चली तुम! यह है गुप्त प्रदेश,
नहीं जानती, आज बन चुका यह है मेरा देश।

यह उपवन मेरा है मैं रानी उपवनकी एक,
कली - कली यह सुमन - सुमन मेरा ही है प्रत्येक।
बिना - कहे क्यों इन्हें देखती आईं तुम इस ओर ?
नहीं जानती डरकर तुमसे विहग गए उस ओर ?

भाग तितलियाँ चलीं तुम्हारा ओचक आना देख,
बिगड़ गया यह मेरा सुन्दर लिखा हुआ आलेख।"
वह युवती कुछ सहम गई, फिर समझ-समझकर बात
बोली—"कितने दिवस गए हैं कितने सायं-प्रात

गए, गईं रातें कितनी ही, मैंने पहली बार
आज सुना है, बन्द हो गया है इस पथका द्वार।
अबलासे भय खाकर हैं सब गईं तितलियाँ भाग
अरे एकके आनेसे ही मिटा एकका राग।

गाँव - गाँवमें सुना कि तारा यहाँ बसी है एक
सुन्दरतामें कोमलतामें सहृदयतामें एक
और विवेक आदिमें वे हैं विदुषी पुरुष - समान
जैसी वे महती हैं वैसे उनके पिता महान्।

स्वर्ग - लोकसे पिता और पुत्री आए इस प्रान्त,
रुचिर-रुचिर बनता जाता है यह बीहड़ बन शान्त,
खुला हुआ है और हृदय अपनानेको दिन - रात,
जिनके दर्शनसे हैं मिटते मनके सब उत्पात।

इस झुँझलाहटमें पाती हूँ अपनापना विचित्र,
इस रूखेपनमें व्यापक है आत्मीयता पवित्र।
तारा ही हों आप अगर तो मैं आई पथ भूल
यहाँ न, सोच - समझकर आई हूँ उनके उपकूल।

मिला न कोई कहीं कि पूछूँ जिससे कोई बात,
मैं भोलेपनमें आई हूँ लिये न कोई घात।"
हँसकर सिरको सुघर मटकिया दी ताराने फोड़,
भौंहें तनिक चढ़ाकर उसकी बाँहें तनिक मरोड़,

डाल कमरमें हाथ लगाकर बल थोड़ा - सा और
कहा—"चलो हम तुम्हें दिखा दें वह ताराका ठौर।"
चली मौन - सी वह युवती यह सोच कौन-सा दण्ड
मिलनेवाला मुझे आज है, यह अपराध प्रचण्ड

समझा गया तभी तो मेरी मंजु मटकिया फोड़
पलमें ही दी गई, दी गईं बांहें और मरोड़।
एक शिलापर बैठाकर युवतीको कहकर बैन
गई—"सखी ! तुम यहीं रहो अब यहाँ रहूँगी मैं न,

भेज रही हूँ मैं ताराको तुम भग जाओगी न
अगर भागकर गई कभी तो फिर सुख पाओगी न।"
यह कह तारा गई कुंजसे निज कुटियाके पास
लगी सजाने रूप सुमनसे अपना समुद सहास।

मंजु रंगको एक हरी साड़ी, सब केश सँवार,
फलके ले उपहार लिये यौवनका रूप निखार
पहुँच शिलाके पास सखीको निज अंकममें डाल,
चूम मृदुल हाथोंको उसके सिरके बाल सँभाल

बोली—"सखी फूल-फल ये है इन्हें करो स्वीकार ;
झूला झूलो, करो एक मेरा - अपना संसार।"
ले युवतीके कर सप्रेम सस्मिता मधुर स्वर बोल,
गई कुंजमें डोल रहा था जहाँ तरल हिण्डोल,

भूल रहा था वहाँ और वह सस्मित पवन स-ओज,
खेल रहे थे लता - कुञ्जमें जब रति और मनोज।
झूलेपर चढ़ गई, झूलने लगा विहग - तरु - वृन्द,
लगा झुलाने वायु; झूलने लगे समोद मलिन्द,

लगे झुलाने सुमन - सुमनको सब कलियोंपर झूम;
बन्दर सब तरु लगे झुलाने बन्दरियोंको चूम।
स्वयं झूलने लगा विपिन, सब वनदेवता अधीर
बने; झूलने लगा गगनमें सुन्दरियोंका चीर।

नवागता आनन्द-विसुध बन बोली—"बनो न मौन;
तुम तारा! बनकी रानी हो, वनका राजा कौन?
कौन मिलाता है अधरोंको पंखड़ियोंसे बोल?
मृगनयनोंसे कौन लगाता है ये आँखें खोल?

बिक जाता है कौन तुम्हारी इस छविपर बेमोल?
सचमुच वह भी होगा कोई प्राणी नव-अनमोल?"
"तुम भरने आई थी जल मुझमें न भरो उन्माद
यह वन ही काफी था पर इस तनका अपर प्रमाद

पागल कर देता है, मन है उरमें एक अशान्ति,
समझ नहीं पाती हूँ नव-जीवनमें यह क्या भ्रान्ति।
सखि! पाया मैंने सन्तत उस अमर पिताका प्यार
और बन्धु - सा प्रिय सुबोध रहता सन्तत तैयार

पीड़ाएँ हरनेको नित; प्रेमा करती सम्मान
मातृ - प्रेम लेकर, न कभी सह सकती है अपमान
और आज सखि! वे प्रकाशजी अन्य पिताके तुल्य,
आस - पासके गाँवोंकी सखियोंका साथ अमूल्य

मिला, मुझे फिर भी जाने क्यों उठती एक उसाँस ;
इस सरिताके पास लगी रहती है मुझको प्यास ।
अपने जगसे दूर कहीं ले चल री नियति महान् !
जहाँ चाँदनी, गीत और सिहरन हैं एक समान ;

बुझ जाती है जिस प्रदेशमें जले हृदयका आह ,
जिसको पाकर बचे न फिर सखि ! कुछ पानेकी चाह !"
"समझ गई मैं मिला न तुमको अबतक पतिका प्यार ,
भार हो रहा आज तुम्हारा जिससे यह शृंगार ।

सुनो, सुनाऊँ आज तुम्हें मैं समाचार स्वर्गीय
पानेवाली हो तुम सुन्दर पति प्रिय परम स्वकीय ।
तुम्हें याद है वह दिन जब आए थे जन दो तीन ?
थे सुबोधजी एक, दूसरे श्याम, तृतीय नवीन

परम प्रवीण सुधीर वीर था मधुर मनोहर नाम
सभी युवक जिनको झुककर करते हैं सदा प्रणाम ।
वे कुमार हैं; पर न कुमारोंकी है उनकी चाल ;
वे सदैव करते रहते हैं दीनोंका प्रतिपाल ।

अपने सदाचारसे होकर एक नया आदर्श
प्रिय सुबोधके प्रिय साथी हैं; लो संदेश सहर्ष ।
छोड़ विभवकी चाह बन गए हैं वे दीन समान
कर्मसे वे समझ रहे हैं लघु - पातकी महान् ।

यही सोचकर लघु श्रेणीमें किया बहनका ब्याह
चतुर और प्रख्यात श्यामसे कल हो गया विवाह ।
और सुना है यह प्रकाशजीकी है सुन्दर चाह
गहें मनोहर शुभ मुहूर्त्तमें सखी तुम्हारी बाँह ।

सखि ! तुम देवी, सत्य तुम्हारा सुन्दर सुघर समाज,
तुम सबपर अपने स्वभावसे कर सकती हो राज।
भूल न जाना मुझे देवि ! मैं हूँ लघु नारी एक,
यहाँ तुम्हारा राज्य, तुम्हारा यह कण-कण प्रत्येक।

धन्य मानती हूँ अपनेको यह अवसर है धन्य
इन कुञ्जोंमें आज मिली हो तुम वन-देवी अन्य।
धन्य-धन्य यह गाँव तुम्हारा जिसमें हुआ निवास,
धन्य तुम्हारे पिता, धन्य जो आते उनके पास।

मैं जाती हूँ आज बहन ! दो मुझे क्षमाका दान,
फिर आकर लूँगी सन्तत तुमसे नव-नव वरदान।"
"जाओ किन्तु सदा आना ले सिरपर मटकी एक
मैं जिससे लूँ राह तुम्हारी इस उपवनमें छेंक।

पंखड़ियों-सी बिहँस कहा युवतीने, "मानूँगी न;
आऊँगी; सन्देश मगर ऐसा फिर लाऊँगी न।
कर पाओगी तुम न और अपनी दूतोका कार्य
दूत तुम्हारे बन जायेंगे परम चतुर वे आर्य।"

दशम सर्ग

"वे आँखें अब नहीं; रहे वे नहीं चमकते केश;
रहा न वह पल-पल परिवर्तित होनेवाला वेष;
उस मनोहराकी छविकी छायापर अब भी सत्य
एक नियतिसे अमर सदा बनती जा रही। अनित्य

पर वह कुररी नहीं सुनाती थी जो मधुमें गान
दर्द-भरा। मधु निशा सुन्दरीकी होती पहचान
पिछली घड़ियोंमें उस प्रियजन-स्मृतिमें छविका एक
स्वर सुनता हूँ अब जब खगका वैसे ही। प्रत्येक

बदल गया है नखत देखता था जो मधुर सुहाग
हम दोनोंको देता, लेता था हमसे जो राग।
देखो ये नभके सारे तारे आये हैं अन्य
लिये हुए अनुराग वही इससे हैं बने अनन्य।

सुन्दरता है सत्य और सुन्दर है वह अनुराग
जिसकी मीठी-सी जलती-सी, बुझ न सकी है आग।
नहीं चाहता हूँ हो जाये इच्छाओंका अन्त;
अभिलाषा अनुरक्तिसे मिली स्मृति है, जिससे कन्त

बहुत पासमें आ-जाता है बँध जाता है सेतु
स्मृतिका, होती दूर पृथक्ता है थोड़ेमें, केतु
फहराता है नव जीवनका संतत परहित, भूल
अन्य-पंथ प्रेमी जाता है; प्रियतक सीधी राह

लेता है इसमें सुख है प्रिय है प्यारेका प्यार।
क्या है उस जीवन-सा जिसमें प्रतिपल प्रियकी याद
एक मधुर स्पन्दन है। कैसा है वह चिर आह्लाद
जहाँ न आशा और निराशाका होता प्रतिद्वन्द,

एक एक बोली है खगकी एक-एक प्रिय छन्द।
यह लीला है अगम रासकी जिसमें कभी मनुष्य
थका नहीं है, नृत्य-नृत्यकी धुन केवल है स्तुत्य।
समझ नहीं पाया है, यह अपनी छाया है, रंग

नित्य नये लाया करती है जो पर होकर; भंग
करती है निज मृदुल चंचु दर्पणपर बारम्बार
अपना ही प्रतिबिम्ब देख अपनी छायासे हार
जैसे वह गौरैया नित। सुन्दर है उसका खेल

उस सीमातक, चाह रही है निज छायासे मेल
या अपनी-सी अपर मूर्ति भी सदय जहाँतक जान
लिये स्नेहकी एक रश्मि करने जाती पहचान।
बेटी! आ! न रहूँगा मैं, जर्जर हो गया शरीर,

मन थक गया आज, उठती है एक अकथ-सी पीर
उरमें मेरे। जर्जर तन तरु-जड़ है जिसपर एक
रुका हुआ है खग जिसने छाना है रस प्रत्येक,
घूम-घूम टहनी-टहनी तरु-तरुकी जबतक श्वेत

युवा रश्मिने चमकाई है दूर-निकटकी रेत।
अब पतझड़ आ गया, गए हैं ये सब पत्ते सूख
हरे-हरे; अब खड़ा हुआ है केवल सूखा रूख।
फल न लगेंगे अब इसमें फिर वह वसन्तकी सृष्टि

अलग रहेगी सदा, पावनी वह पावसकी वृष्टि
तर न करेगी इसे और वह नैश शारदी रश्मि
अब न करेगी रजतपूर्ण नित इधर - उधरकी उर्मि।
अब न करेगा उसकी सेवा नग्न शीतका सूर्य

मधुके बाद जेठमें डालीका न बजेगा तूर्य।
घन घहरेंगे नहीं और अब धीरे - धीरे मन्द
पवन पड़ेगा, ऋतु - परिवर्तन हो जायेगा बन्द।
ये सब बातें सोच विहग अब देगा यह तरु त्याग,

रुदन एक लाता है उसके जानेमें अनुराग।
मैं जब बूढ़ा हुआ हुए सब उज्वल काले बाल,
छोड़ दिया उनमें कितनोंने मेरा सँग तत्काल।
बेटी ! भले - बुरेकी अब मैं समझ न पाता बात

शीत या कि है उष्ण बह रहा यह मन्थर - सा वात।
गतिसे स्वरसे सदा जान लेता था नरका रूप
अब सुनते हैं नहीं कर्ण ये भी अब पूर्ण विरूप।
घ्राण - शक्ति भी शिथिल हुई यह मल है या मृदु गंध,

अंधे जगमें जो आया, पर आज हृदय हैं अंध
तुम्हें छोड़ बेटी ! जानेवाला हूँ मैं पर - लोक
मैं कर चुका प्रयोग मिला जो था मुझको आलोक।
देख चुका मैं बहुत दिनोंमें यह सुख - दुखकी रात,

आये कितने ही जीवनमें सौख्य और उत्पात।
यह अन्तिम दिन आज सुता! अब जायेगा बन मौन;
मुझे खेद है एक तुम्हारे दिन देखेगा कौन?
आनेवाले पल निष्ठुर तेरा कोमल संसार

सह न सकेंगी पंखुड़ियाँ जब होगा वज्र-प्रहार।
किन्तु सुता! संतोष मुझे है तेरा हृदय महान्,
तू अपनी रक्षाके हेतुक सुता! स्वयं है मान।"
देख पिताकी दशा सोचकर आनेवाला काल

सुन बातें उनकी, तारोंके बदल गये तत्काल
हाव-भाव, वह खड़ी रह गई और गई वह सूख
रक्त-हीन हो गई; मिटी सब प्यास नींद या भूख।
क्यों न फैल जाये तम नभमें घनका देख प्रसार,

हिमका गिरना देख गगनसे टपके क्यों न तुषार;
भहराकर गिर जायँ क्यों न तरु-शाखाएँ तत्काल
जब जड़ स्वयं जा रही हिलकर आज कालके गाल।
तनसे था असमर्थ वृद्ध पर मनसे सदा समर्थ

केवल जीवनसे ही पिता—सुताका अनुपम अर्थ।
जब पथपर थककर आती थी तारा उसके पास,
कच सँवारकर वृद्ध किया करता था श्रम-उपहास।
जब ईंधनको जाती थी वह उठकर वनकी ओर

मगपर काला नाग देख भय खा कुटियाकी ओर
घबराई-सी हुई दौड़कर आती थी जब पास
अपने उरसे लगा पिता हरता था उसका त्रास
अन्धावस्था, अन्ध दिनोंका अन्धा रेगिस्तान

उसमें तारा नव राही थी वह था नखलिस्तान।
सुन्दर एक महान् दृश्य था, फल थे, स्वर थे फूल,
जहाँ उलझकर नव राही जाता था श्रमको भूल;
भरी नसोंमें दौड़ाकर दो पलमें बिजली एक
बोला वृद्ध बाँध साँसोंमें सुर-सा एक विवेक,
"बेटी! मैं कण-कणमें छिपकर तुम्हें करूँगा प्यार,
मैंने जीता है जीवनको—हुई न मेरी हार।
बेटी! मुझे न ले जाना गंगामें, यहीं समाधि

बने यहींके सरिता-तटपर जहाँ तुम्हारी व्याधि
दूर हुई है, उन वृक्षोंसे लाना काष्ठ बटोर
कभी-कभी गाते हैं जिनपर गान मनोहर मोर,
और आग लेना कुटियासे कुछ सूखेसे फूल
फूँक वृक्ष सूखा मेरा ले उसके तनका फूल
माँ गंगामें आज बहाना, वह खेलेगा खेल
सागर-तटतक लोल-लोल लहरोंको और ढकेल,
बच जाये जो राख उसे देना कुटियाकी गोद

यहीं सुता कुछ गहराई तक देना यह थल खोद
मिट्टी इस मँगईकी लेकर देना उसको तोप
जिसके साथ हुआ है मेरी आशाओंका लोप।
जिसपर खग आवेंगे और सुनाएँगे मृदु-गान,

मंत्र और उपदेश उसे ही मेरा लेना मान।
यही चिह्न मैं छोड़ रहा हूँ यह मेरा सन्देश,
मुँह न कभी मोड़ेगा तेरी कुटियासे सुखदेश।
ला दे तुलसी-दल, गंगा-जल अवसर लेश रहा न,

उड़ता है यह शुक पिंजरसे जाता मुझे सहा न।
और हुआ पलमें परिवर्त्तित वृद्ध पिताका रूप;
अनुभव-शून्य सुता भी क्षणमें सिहर बनी तद्रूप।
वह रखती थी कभी नयन आनन पर, कभा विशाल

गगन देखती थी आता है किस पथसे वह काल।
सोच रही थी, "देखूँ मैं यह वनका बनता राज
या देखूँ मैं जीर्ण कुटीका यह मिटता - सा राज।
देखूँ मैं वह पवन सनसनाता जाता उस ओर

या देखूँ मैं ऊर्ध्व श्वास करता जाता जो शोर?
या देखूँ मैं आज नदीका काला - नीला नीर,
या देखूँ कालिमा, जिसे लाता यह श्याम शरीर?
यह बहता - सा पवन कभी लायेगा जलद - समूह

और चन्द्रके नीचे बन जायेगा तमका व्यूह।
उस दिन मैंने कही पितासे जब संध्याकी बात—
"बेटी! मैं था अंध और मूर्छित था मेरा तात।"
कहा पिताने था, "कोई ऐसा न उसे था रोग

मैंने संज्ञाहीन समझकर उससे किया वियोग,
अब रह - रह कर एक हृदयमें चुभ आता है तीर
हे भगवन्! क्या छोड़ दिया मैंने सप्राण शरीर।"
"आज तुले इस संज्ञावालीको तजनेको तात,

बिना बहाये एक आसुओंका कारुणिक प्रपात।"
इतनेमें ही पहुँच गए थे कुछ जन उनके पास,
जिनमें था नवयुवक एक कुछ चिन्तित और उदास।
अन्य एक गहरी आँखोंसे देख रहा था देह

वृद्ध देवकी, जो करनेवाली थी सूना गेह।
यह क्या ! वह बन गया चित्र, थी लगी टकटकी एक,
काँप रहे थे रोम - रोम उसके पल - पल प्रत्येक।
कहने लगा वचनमें भरकर एक अजब उन्माद

और देखने लगे उसे सब जन, छा गया प्रमाद।
"मैं घनपति हूँ धर्मदेवजी ! रुको ! रुको !! तुम जाग।
यह तन ले आया हूँ इसमें आज लगा दो आग।
तुम्हें खोजनेमें मैंने वर्षों छाना संसार;

लो प्रतिशोध यहाँ आया हूँ यह लो तीव्र कुठार।
यह विषका प्याला लो, दो अपने हाथोंसे आज,
बन जाये बस अभी - अभी मेरे जीवनका काज।
छोड़ जगतको दूर बढ़ा मैं अपने पथकी ओर

चलते - चलते थका सोचता पा लूँगा वह छोर;
किन्तु न उसकी झलक रंग सकी एक हमारा प्राण,
छोड़ दिया जब ऊषामें उसके पानेका ज्ञान।
खाना - पीना और भोगना सुख था मेरा लक्ष,

कुछ विचार था नहीं, बना था मैं पविवाला यक्ष।
मैंने ही दी कभी तुम्हारी प्रिय वाटिका उजाड़।
उठो, फेंक दो, मेरे सिरपर गुरुतर एक पहाड़।
मेरे प्रिय ! कर दो पल भरमें मेरा माथा चूर;

कहीं न पाया है मैंने अपना - सा कोई क्रूर।
यह तारा ही है जिसका शुभ मातृ - दीप - आलोक
फूँक दिया है, बुझा दिया है, तुम्हें न है कुछ शोक ?
घुसें तुम्हारे पंजरमें वे फरसेवाले राम

सिर शतधा कर दो मेरा, फिर मिले न आत्म, विराम,
या बन जाओ उठो देव ! तुम आज वृद्ध वनराज;
यह गज देखो मत्त हुआ है, बनो आज यमराज।
क्या उठ गया तुम्हारा जगसे प्यारा सौम्य सुबोध

गिरे गगनसे वह इस थलपर, ले अपना प्रतिशोध।
बन जाओ बालिका ! तुम्हीं देवी कालिका प्रचण्ड
बढ़ जाओ मैं असुर खड़ा लेकर दैत्योंका झुण्ड;
टूक - टूक कर दो कृपाणसे तन मेरा शत - खण्ड

और गगनमें देवि ! उड़ा दो इस पिशाचका मुण्ड;
खप्पर भरकर देवि ! बुझा लो आज रक्तसे प्यास
कर दो तारा ! जगत्-जगत्में तुम मेरा उपहास।"
यह कहते - कहते चमकाई उसने असिकी धार

और रोकने ही वाला था अपना हृदय - प्रसार,
तबतक बोला वृद्ध—"हमारी तारा ! दे दो नीर,
अब न रुकेगा इस अन्तरमें पल - भर सरस समीर।
फिर भी आशा विजित कर रही जीवनका उपचार

अनुगत छाया छोड़ रही अब भी न मुझे इस पार !
दे न विभव, रख दूर नामसे बहुत दूर बलसे, न
मिले निराशा, प्यार मिले निर्बलतामें, जगके न
घृणा-भाव चुपकेसे आकर छीन जगत-विश्वास

करें कभी जीवन उपास; करदें ममत्वके पास।
ये धनपति हैं, होवे बेटी ! इनका भी कल्याण,
अब करनेवाले हैं ये उपवनमें तेरा त्राण।
सोच रहा था जीवनभर मैं बदलेकी ही बात,

मिला मुझे वह इस परिवर्तनमें सम सुख-संजात।
घृणा पापको करता हूँ मैं, पर पापीको प्यार,
जो स्वीकार दोष करता, उसका उर सुख-आगार।
ठगते जो भोले-भालोंको बनकर सुन्दर सन्त,

सदा रुदनमें ही उनका जाता है बीत बसन्त।
मैं नर हूँ, इसलिये किया करता हूँ रह-रह भूल,
यदि न करूँ तो बनूँ देव, बन जाय जगत् निर्मूल।
इसमें ही गौरव मेरा, मैं करूँ पाप स्वीकार

और ठान लूँ—'कभी समझकर करूँ न अत्याचार।'
तारा! छोड़ चला जाता हूँ सब धनपतिपर भार;
तुम्हें आजसे मिला करेगा नये पिताका प्यार।
नव-जीवनमें सफल बनो तुम मेरा आशीर्वाद,

सुना करो तुम सन्तत सुजनोंसे सुशील सम्वाद।
यही चाह थी एक, आज मैं मरता हूँ निःशोच
नव-जीवन हुलासमय है हो जाओ निःसंकोच।
धनपति! मैं प्रतिशोध ले चुका, चिरजीवी हों आप

ध्यान रहे, मेरी तारा पाये न कभी सन्ताप।"
संज्ञा अपनी भूल और होकर आश्चर्य-विमुग्ध,
पाकर दान क्षमाका धनपति बोला—"सुरपति! शुद्ध
प्रेम और विश्वास हुए हैं कभी न तुमसे दूर,

मिल थी गई पूर्णता उनको प्रिय तुम जीवन-सूर
जाते हो करने निवास अब देवगणोंके साथ,
यह सब पार्थिव भार छोड़कर समुद प्रेमके साथ।
खोना जग कहते हैं जिसको, है पाना संसार,

और मृत्युको विज्ञ बताते पर - जीवनका द्वार।
तेरे ये सब काम दया सद्धर्म और सत्कर्म
कभी न पिछड़े रहे अन्ततक; उनका मोहक मर्म
हुआ विश्व - विख्यात करेंगे ये वैतरणी पार,

प्रेम और श्रद्धा जायेंगे ले अपना संसार,
और न्याय - कर्ताके सम्मुख लेकर शुद्ध विचार
शुद्ध पुण्यका लेखा देंगे करके दूर विकार
खोल - खोल रख देंगे तेरा यह मानवी स्वरूप,

वह न्यायी भर देगा तुझमें अमर ज्योतिका रूप,
और शान्तिसे देव! सजाना नये राज्यमें राज
तेरी नयी - नयी स्मृति लेकर होगा नया समाज।"
और नवयुवक बोल उठा—"मैं तेरा पुत्र सुबोध,

पिता! चले तुम छोड़ कहाँ मैं हूँ बन गया अबोध।
युगके बाद मिली मुझको अपनेपनकी पहचान
अरे एक झाँकी देकर छिपते हो क्यों भगवान्!
देखे निशिका देव चन्द्र खोले निज नभका द्वार,

अब जानेवाले हैं मेरे जनक कहीं उस पार।
एक बार रे कालचक्र! आ जा तू मेरे द्वार
अरे चढ़ा लेने दे उनके पगपर मेरा प्यार।
दिन होना रुक जाय और घड़ियोंकी गति रुक जाय,

सब विनाशके कार्य रुकें नभके तारे रुक जायँ,
गति केवल पा जाये मेरा जनक - हृदय कुछ काल,
लूँ उसासमें मैं अपना क्षण-क्षण यह हृदय निकाल।
मेरी नहीं सुनो तो परियो! साज सजाओ मंजु,

कस लो तार मृदुल वीणाके, स्वर साधो, सब कुञ्ज
हरे - हरे गीतोंसे भर दो तर कर दो सब मार्ग
और बुला लो मन्दिर - मन्दिरसे, वशिष्ठ, सुर, गर्ग,
गौतम, मुनि अंगिरा आदि अब करना है सम्मान

तुम्हें, तुम्हारे ही प्रदेशमें जाते पिता महान्।
यह मेरी तारा है, मेरी बहन शान्ति - अवतार;
पाई है मैंने अपनी निधि कर दुर्गम पंथ पार।
क्रंदन पूरा हुआ हमारा रही सिसक अवशेष,

करे न मेरा देश किसी दिन दीन अन्यका देश।
मैं अपने पथ चलूँ, चलें अपने ही पथपर लोग,
मिले लक्ष्य अपना - अपना अपना - अपना हो योग,
और योग हो एक सभीका सबका पथ हो एक

बढ़ें सभी जिसपर; पाये जिसपर पथ जन प्रत्येक।"

S0-FKP-020